(१५) पातञ्जल-दर्शनम्

चित्तस्य वृत्तिमनुरुध्य सुसाधनाभि-
जीवः समाधिमधिगच्छति यन्मतेन ।
योगास्तथा वसुमिता अधियोगशास्त्रं
येनाश्रिता मम पतञ्जलये नमोऽस्मै ॥ —ऋषिः

(१. योगसूत्र की विषय-वस्तु)

सांप्रतं सेश्वरसांख्यप्रवर्तकपतञ्जलिप्रभृतिमुनिमतमनुवर्तमानानां मतमुपन्यस्यते । तत्र सांख्यप्रवचनापरनामधेयं योगशास्त्रं पतञ्जलिप्रणीतं पादचतुष्टयात्मकम् । तत्र प्रथमे पादे 'अथ योगानुशासनम्' (यो० सू० १।१) इति योगशास्त्रप्रतिज्ञां विधाय 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १।२) इत्यादिना योगलक्षणमभिधाय समाधिं सप्रपञ्चं निरदिक्षद्भगवान्पतञ्जलिः ।

अब सेश्वर सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक पतंजलि आदि (=हिरण्यगर्भ, याज्ञवल्क्य आदि) मुनियों के मत का अनुसरण करने वाले लोगों के सिद्धान्तों की व्याख्या की जाती है । [कपिल के द्वारा प्रतिपादित सांख्य-दर्शन को निरीश्वर-सांख्य कहा गया है क्योंकि वे अपने दर्शन में ईश्वर नामक कोई पदार्थ स्वीकार नहीं करते । योगशास्त्र में सभी विषयों पर सांख्य से सहमत होते हुए भी ईश्वर के विषय में विमति है । ये लोग पुरुष-विशेष के रूप में ईश्वर को भी स्वीकार करते हैं । इसीलिए सेश्वर सांख्य के नाम से यह दर्शन प्रसिद्ध है । सांख्य और योग अन्य पक्षों पर सहमत होने से समानतंत्र भी कहलाते हैं—वे एक दूसरे के पूरक हैं । सिद्धान्तों की विवेचना सांख्य में हुई है जब कि व्यावहारिक पक्ष का विचार योग में हुआ है । पतंजलि ही इसके उपलब्ध प्रवर्तक माने जाते हैं क्योंकि इनका योगसूत्र बहुत प्रसिद्ध है । इनके पूर्व भी कुछ योगी हो गये थे किन्तु उनके ग्रंथों का प्रचार न होने से माधवाचार्य उन्हें 'प्रभृति' शब्द के अंतर्गत रखते हैं ।]

तो, योगशास्त्र में, जिसका दूसरा नाम 'सांख्यप्रवचन' भी है तथा जिसकी रचना पतंजलि ने की है, चार पाद (समाधि, साधन, विभूति, कैवल्य) हैं ।

उनमें प्रथम पाद में 'अथ योगानुशासनम्' (अब योग का विश्लेषण होगा, यो० सू० १।१)—इस सूत्र में योगशास्त्र की प्रतिज्ञा देकर भगवान् पतंजलि ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (चित्त की वृत्तियों को रोक देना ही योग है—यो० सू० १।२)—इस सूत्र के द्वारा योग का लक्षण बतला कर, विस्तारपूर्वक समाधि (Concentration) का निर्देश किया है। ['अथ' शब्द स्वरूप से तो मंगल-बोधक है, किन्तु अर्थ है उसका अधिकार अर्थात् आरंभ। अनुशासन = विवेचना करके बोध कराना। समाधि = सम्यक् रूप से आधान (चित्त की अवस्थिति)।* योगशास्त्र में समाधि के दो भेद दिये गये हैं—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। संशय, विपर्ययादि से पृथक् होकर (सम्) अच्छी तरह (प्र) ध्येय का स्वरूप जिसमें ज्ञात हो वही संप्रज्ञात है। असंप्रज्ञात समाधि में ध्यान करने वाले तथा ध्येय ईश्वर दोनों का भेद मिट जाता है।]

द्वितीये 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (पात० यो० सू० २।१) इत्यादिना व्युत्थितचित्तस्य क्रियायोगं यमादीनि च पञ्च बहिरङ्गानि साधनानि। तृतीये 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (पात० यो० सू० ३।१) इत्यादिना धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं संयमपदवाच्यं तदवान्तरफलं विभूतिजातम्।

द्वितीय पाद में—'तप, स्वध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर में सारे कामों को अर्पण कर देना) ही क्रियायोग है' (यो० सू० २।१)—इस प्रकार के सूत्रों से, जिस व्यक्ति का चित्त अभी समाधियुक्त नहीं हुआ है, उसके लिए व्यावहारिक योग अर्थात् यम आदि पाँच बहिरंग साधनों का निर्देश किया है। तृतीय पाद में 'चित्त को एक स्थान में बाँध देना ही धारणा है' (यो० सू० ३।१) इत्यादि सूत्रों से धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीन अंतरंग साधनों का [निर्देश किया है] जिन्हें समष्टि-रूप में 'संयम' भी कहते हैं तथा इनके जो गौण फल विभिन्न विभूतियों (अतिमानव शक्तियों) के रूप में प्राप्त होते हैं, उनका निर्देश भी किया गया है।

विशेष—क्रियात्मक (व्यावहारिक) योग में ये तीन चीजें आती हैं—तप, स्वाध्याय और ईश्वर का प्रणिधान। इन्हें हम योग का साधन कह सकते हैं। **तप** के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा, सत्यभाषण, मौनग्रहण, अपने

---

* तुलनीय—इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः।
अन्तःशीतलता यस्य समाधिरिति कथ्यते ॥ (यो० वा०)

आश्रमधर्म का पालन, द्वन्द्वों का सहन, मिताहार आदि व्रत आते हैं। इनके पालन में शरीर को सुखाना नहीं है, अन्यथा शरीर के क्षीण हो जाने से योग में व्याघात पड़ेगा। **स्वाध्याय** का अर्थ है—प्रणव, श्रीसूक्त, रुद्रसूक्त, ब्रह्मविद्या आदि का पारायण करना। फल की कामना न करते हुए, कृत कर्मों को परम गुरु ईश्वर को सौंप देना **ईश्वर-प्रणिधान** है। इस क्रियायोग से समाधि की भावना तथा क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) का दुर्बलीकरण होता है। इन क्रियायोगों का वर्णन द्वितीयपाद के प्रथम सूत्र से आरंभ करके २८वें सूत्र तक हुआ है। शेष सूत्रों में अष्टांग योग के पाँच अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—का वर्णन है। ये पाँच अंग योग (चित्तवृत्ति-निरोध) के बाह्य साधन हैं। इनका वर्णन पृथक्-पृथक् करें।

(१) **यम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को यम कहते हैं। ये सार्वभौम व्रत हैं तथा इन्हें जाति, देश, काल और आचार (परंपरा) की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। प्राणी मात्र को, कहीं भी, कभी भी, किसी के लिए भी मैं नहीं मारूँगा—यही सार्वभौम व्रत हुआ। प्राण-वियोग के लिए जो व्यापार करें, वह हिंसा है और इसके विरुद्ध **अहिंसा** होती है। वाणी और मन से वस्तु का यथार्थ निरूपण करना **सत्य** है। दूसरों के द्रव्यों का हरण नहीं करना **अस्तेय** है। जननेन्द्रिय का नियंत्रण करना **ब्रह्मचर्य** है। भोग के साधन के रूप में जो वस्तुएँ हों उन्हें स्वीकार न करना **अपरिग्रह** है।

(२) **नियम**—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर का प्रणिधान करना (कर्मार्पण करना)—ये पाँच नियम हैं। पवित्र रहना शौच है। शरीर या मन से पवित्र रहा जा सकता है। मिट्टी जल आदि से शरीर की बाह्य शुद्धि होगी तथा पंचगव्य आदि खाने से आन्तरिक शुद्धि। अच्छी-अच्छी भावना करके राग, द्वेषादि मानसिक मलों को धो देना मानस शुचिता है। तृष्णा न होना संतोष है। दूसरे नियमों का वर्णन पहले ही कर चुके हैं।

(३) **आसन**—जिस रूप में साधक स्थिरता से (देर तक) तथा सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन है। पद्मासन, सिद्धासन आदि प्रसिद्ध हैं जिनमें हाथ-पैर आदि शारीरिक अवयवों को एक विशेष प्रकार से रखा जाता है। आसन स्थिर हो जाने पर शीत, उष्ण आदि से पीड़ा नहीं होती है।

(४) **प्राणायाम**—आसन स्थिर हो जाने पर श्वास (नासिका के छेदों से वायु का अन्दर जाना) और प्रश्वास (वायु का बाहर आना), दोनों की गति का निरोध कर देना प्राणायाम है। वायु जहाँ है वहीं रह जाय जिससे

चित्त भी स्थिर हो जाय। ऐसा चित्त शब्दादि विषयों के साथ संबद्ध नहीं हो सकता। परिणाम यह होगा कि श्रोत्रादि इन्द्रियाँ भी विषयों से विमुख हो जायँगी।

(५) **प्रत्याहार**—इन्द्रियों का अपने विषयों से विमुख होकर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना प्रत्याहार कहलाता है। इन्द्रियों को रोकने वाला चित्त ही है। चित्त के रुक जाने से ये इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं।

ये पाँचों उपाय योग के वहिरंग साधन हैं क्योंकि चित्त को स्थिर करने के वाद क्रमशः समाधि तक पहुंचा जा सकता है। धारणा, ध्यान और समाधि चूँकि समाधि के स्वरूप की निष्पत्ति करते हैं अतः अंतरंग साधन कहलाते हैं जिनका वर्णन तृतीय पाद (विभूतिपाद) में हुआ है। समाधि को ही योग कहते हैं। यह योग-रूपी वृक्ष चित्तरूपी खेत में यम-नियम के द्वारा बीज प्राप्त करता है, आसन-प्राणायाम से अंकुरित होता है, प्रत्याहार के द्वारा इसमें फूल लगते हैं और अंत में धारणा आदि अंतरंग साधनों के द्वारा फलवान् होता है। इन तीन साधनों का वर्णन भी करें।

(६) **धारणा**—नाभिचक्र, हृदय, नासिका आदि स्थानों में चित्त को एकाग्र (Concentrate) कर लेना धारणा है। देश कोई भी हो—मूर्ति हो या अपना ही शरीर, किन्तु चित्त की एकाग्रता होनी चाहिए।

(७) **ध्यान**—धारणा में किसी देश में चित्त की वृत्ति (प्रत्यय) एक स्थान पर स्थिर की जाती है—अब वह वृत्ति इस प्रकार से समान प्रवाह के द्वारा लगातार उगती रहे कि दूसरी कोई वृत्ति बीच में न आये, तब उसे ध्यान कहते हैं (तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ३।२)।

(८) **समाधि**—यह ध्यान जब केवल ध्येय वस्तु के आकार में हो जाय, न ध्यान रहे न ध्याता, तब उसे समाधि कहते हैं। ध्यानावस्था में ध्यान-क्रिया, ध्यान करने वाले तथा ध्येय वस्तु की भी प्रतीति होती है किन्तु अभ्यास बढ़ाने पर तीनों जब एकाकार होकर ध्येय के स्वरूप में ही प्रतीत होने लगें तब उस अवस्था का नाम समाधि हो जाता है।

इन तीनों अन्तरङ्ग साधनों का सम्मिलित नाम **संयम** है जिसके दो फल हैं—मुख्य फल योग ही है, किन्तु गौण फल हैं नाना प्रकार की विभूतियाँ जैसे—भूत-भविष्यत् की बातों का ज्ञान, पशु-पक्षी आदि की बोली समझने की शक्ति, दूसरे जन्म की बातों का ज्ञान, दूसरे के मन की बातों को जानने की शक्ति, अन्तर्धान हो जाने की शक्ति आदि। इन सबों का वर्णन विभूतिपाद में किया गया है।

चतुर्थे 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (पात० यो० सू० ४।१) इत्यादिना सिद्धिपञ्चकप्रपञ्चनपुरस्सरं परमं प्रयोजनं कैवल्यम् । प्रधानादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि प्राचीनान्येव संमतानि । षड्विंशस्तु परमेश्वरः क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषः स्वेच्छया निर्माणकायमधिष्ठाय लौकिकवैदिकसंप्रदायप्रवर्तकः संसाराङ्गारे तप्यमानानां प्राणभृतामनुग्राहकश्च ।

चतुर्थ पाद में —'जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ हैं' (यो० सू० ४।१) इत्यादि सूत्रों के द्वारा पाँच प्रकार की सिद्धियों का विस्तार करते हुए परम लक्ष्य कैवल्य का निर्देश पतंजलि ने किया है । [साधन के भेद से सिद्धियों के पाँच भेद किये गये हैं । जो सिद्धियाँ जन्म से ही प्राप्त रहती हैं उन्हें जन्मज कहते हैं जैसे पक्षियों के उड़ने की सिद्धि या देवताओं की सिद्धि । कुछ सिद्धियाँ औषधियों के सेवन से प्राप्त होती हैं जैसे पारा आदि का सेवन करके शरीर में विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना । मंत्र से होने वाली सिद्धियों में इष्टदेव की प्राप्ति प्रधान है । तप के प्रभाव से भी अशुद्धि दूर होकर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है । समाधि से उत्पन्न होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन विभूतियों के रूपमें निर्दिष्ट है । अणिमादि, अजरत्व, अमरत्व, आकाशगमन आदि मुख्य सिद्धियाँ हैं । उक्त अष्टांग योग से योग की प्राप्ति होती है, तब प्रकृति-पुरुष का भेद साक्षात्कार के रूप में मिलता है । पुरुष का ज्ञान हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है—मोक्ष का अर्थ है दुःख का आत्यन्तिक विनाश । इन सबों का निरूपण चतुर्थ पाद में हुआ है ।]

प्रधान आदि पचीस तत्त्व तो पहले-जैसे (सांख्य-दर्शन के अनुसार) ही यहाँ भी स्वीकृत हैं । हाँ, छब्बीसवाँ तत्त्व परमेश्वर है जो क्लेश (अविद्यादि) कर्म, विपाक तथा आशय से अस्पृष्ट (अछूता) रहने वाला पुरुष ही है (दे० यो० सू० १।२४) । अपनी इच्छा से ही वह शरीरों का निर्माण करके लौकिक और वैदिक संप्रदायों का प्रवर्तन करते हुए, संसार की दावाग्नि में जलने वाले जीवों पर अनुग्रह भी करता है । [सांख्य-दर्शन के सारे सिद्धान्तों को मानने पर भी पातंजल-दर्शन की एक विशेषता है कि इसमें ईश्वर की सत्ता मानी जाती है । ईश्वर का लक्षण पतंजलि इस रूप में देते हैं—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (१।२४) । अविद्या आदि क्लेशों का वर्णन आगे करेंगे । ये चित्त में रहकर त्रिगुणात्मक संसार को दृढ़ करते हुए परिताप उत्पन्न करते हैं जिसके कारण क्लेश कहलाते हैं । निषिद्ध और विहित दो प्रकार के

कर्म होते हैं जिन्हें दूसरे शब्दों में धर्म और अधर्म कहते हैं। कर्म के फल विपाक कहे जाते हैं जो जन्म, आयु और भोग के रूप में तीन हैं। जो मन में अवस्थित रहते हैं (आशेरते) वे आशय अर्थात् संस्कार हैं। इन सब मानवीय विशेषताओं से ईश्वर तीनों कालों में अछूता रहता है। सांख्य-दर्शन के जीवों (पुरुषों) को ये दोष व्याप्त कर लेते हैं किन्तु ईश्वर इन से परे है। ईश्वर अपनी इच्छा से एक या एक साथ ही अनेक शरीर बना सकता है—इसे **निर्माणकाय** कहते हैं। ईश्वर संप्रदाय का प्रवर्तन तथा जीवों पर अनुग्रह करता है—ये दोनों लिंग ईश्वर का अनुमान कराने में सहायक होते हैं अर्थात् ईश्वर अनुमेय भी है।

(२. मोक्ष के विषय में शंका और उसका समाधान)

ननु पुष्करपलाशवन्निर्लेपस्य तस्य तप्यभावः कथमुपपद्यते येन परमेश्वरोऽनुग्राहकतया कक्षीक्रियत इति चेत्—उच्यते। तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यं बुद्ध्यात्मना परिणतमिति सत्त्वे परितप्यमाने तदारोपवशेन तदभेदावगाहिपुरुषोऽपि तप्यत इत्युच्यते तदुक्तमाचार्यैः—

१. सत्त्वं तप्यं बुद्धिभावेन वृत्तं
भावा ये वा राजसास्तापकास्ते।
तप्याभेदग्राहिणी तामसी या
वृत्तिस्तस्यां तप्य इत्युक्त आत्मा॥ इति।

अब प्रश्न हो सकता है कि कमल के पत्ते की तरह निर्लेप (किसी से भी असंबद्ध) जीव ताप का विषय (तप्य) कैसे बन सकता है जिसके चलते उसपर अनुग्रह करने के लिए (उसे मुक्त करने के लिए) आपको परमेश्वर की सत्ता माननी पड़ती है ? उसका उत्तर दिया जाता है—जो सत्त्वगुण बुद्धि के रूप में परिणत (विकसित) होता है वही तप्त किया जाता है और उसे तप्त करने वाला है रजोगुण। इस प्रकार सत्त्व के परितप्त होने पर, उसी (बुद्धितत्त्व) पर अपना आरोपण करके, उसके साथ अभेद संबन्ध समझने वाला पुरुष भी संतप्त हो रहा है, ऐसा लोग कहते हैं। [आशय यह है—जीव स्वयं न तो तप्त होता है न दूसरे को तप्त ही करता है। किंतु बुद्धिगत सत्त्वांश तप्त होता है और रजोगुण का अंश तप्त करता है। एक तप्य है दूसरा तापक। चूंकि बुद्धि प्रधान का परिणाम है तथा प्रधान में तीन गुण हैं अतः वे तीनों गुण बुद्धि के रूप में भी परिणत होते हैं। जीव स्वयं तो तप्य नहीं हो सकता क्योंकि वह

क्रिया से रहित है तथा परिणाम भी उसमें नहीं होता। अतः क्रिया से उत्पन्न फलों के आश्रय—कर्म की संभावना उसमें है ही नहीं। बुद्धि के संतप्त होने पर मूढ लोग समझते हैं कि प्रतिबिम्ब के रूप में उसी की तरह का पुरुष भी अनुतप्त हो रहा है। यद्यपि बुद्धि और जीव में भेद है किन्तु वे बुद्धि के धर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर देते हैं। विद्वानों की दृष्टि से भी पुरुष पर भोक्ता होने का प्रतिबिम्ब तो पड़ता ही है। अतः बुद्धिगत दुःख को ही हटाने के लिए प्रयत्न किया जाता है।]

ऐसा ही आचार्यों ने कहा है—'बुद्धि के रूप में परिणत होने वाला (प्रधान के विकार के रूप में स्थित बुद्धि) सत्त्व ही तप्य होता है। जो पदार्थ रजोगुण से संबद्ध हैं वे ही तापक हैं। तप्य (अर्थात् बुद्धिगत सत्त्वांश) के साथ अभेद ग्रहण करने वाली जो तामसी (अज्ञानमूलक) मनोवृत्ति है उसी पर [अभेद का आरोपण करने से] आत्मा अर्थात् जीव ही तप्य है, ऐसा प्रयोग किया जाता है।' [सारांश यह है कि बुद्धि के गुणों के तप्य, तापक होने से उन गुणों का जीव पर आरोप करके कहा जाता है कि जीव ही संतप्त हो रहा है।]

पञ्चशिखेनाप्युक्तम्—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपततीति। भोक्तृशक्तिरिति चिच्छक्तिरुच्यते। सा चात्मैव। परिणामिन्यर्थे बुद्धितत्त्वे प्रतिसंक्रान्तेव प्रतिबिम्बितेव तद्वृत्तिमनुपततीति बुद्धौ प्रतिबिम्बिता सा चिच्छक्तिर्बुद्धिच्छायापत्त्या बुद्धिवृत्त्यनुकारवतीति भावः।

पंचशिखाचार्य ने भी कहा है—'भोक्ता की शक्ति (बुद्धि-शक्ति धारण करने वाला पुरुष) स्वयं परिणत या विकृत नहीं हो सकती, इसका प्रतिसंक्रमण (विकार उत्पन्न करने के लिए दूसरी वस्तु से संयोग) भी नहीं हो सकता—फिर भी परिणत हो सकने वाली वस्तुओं पर मानों प्रतिबिम्बित होती है तथा उसकी वृत्तियों (धर्मों) का अनुसरण भी करती है।' (यो० सू० २।२० पर व्यास भाष्य में उद्धृत)। भोक्ता की शक्ति को ही चित् शक्ति कहते हैं। वह और कोई नहीं, आत्मा ही है। आत्मा ही परिणत होने वाली वस्तु—बुद्धितत्त्व—पर प्रतिसंक्रान्त अर्थात् प्रतिबिम्बित-सी होती है तथा उसकी वृत्तियों का अनुसरण भी करती है। इस प्रकार बुद्धि में वह चिच्छक्ति (आत्मा) प्रतिबिम्बित होती है, उस पर बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है तथा बुद्धि की वृत्तियों का अनुकरण भी वह करने लगती है [जो धर्म बुद्धि के होते हैं उन्हें आत्मा अपने धर्म समझने लगती

है। यही कारण है कि बुद्धि का सत्त्वांश तप्त होता है और आत्मा अपने को तप्त समझती है। रजोगुणांश तप्त करता है और आत्मा अपने को ही तापक समझती है। तमोगुण तो यह नाटक ही दिखाता है। बुद्धि और आत्मा का अभेद हो जाने से आत्मा को ज्ञानी कहने लगते हैं और बुद्धि को चेतन कहने लगते हैं। पर वस्तुतः दोनों पृथक् हैं।

तथा शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्न-तदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासत इति। इत्थं तप्यमानस्य पुरुषस्यादर-नैरन्तर्य-दीर्घकालानुबन्धि-यम-नियमाद्यष्टाङ्गयोगानु-ष्ठानेन परमेश्वरप्रणिधानेन च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातावनुपप्लवायां जातायामविद्यादयः पञ्च क्लेशाः समूलकापं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हताः भवन्ति। ततश्च पुरुषस्य निर्लेपस्य कैवल्येनावस्थानं कैवल्यमिति सिद्धम्।

इस तरह, यद्यपि पुरुष (आत्मा) शुद्ध या निर्लेप है, किन्तु बुद्धिगत (विषयों का आकार ग्रहण करने के रूप में) प्रत्ययों (विचारों, Ideas) का अनुकरण करता है। उन विचारों का अनुकरण करते हुए, यद्यपि उसके स्वरूप का नहीं है (= बुद्धि के सरूप नहीं है) तथापि बुद्धि के रूप में ही प्रतिभासित होता है। जो पुरुष इस रूप में संतप्त हो रहा है उसे, आदर (तप, श्रद्धा आदि) के साथ, निरन्तर दीर्घकाल तक चलने वाले यम-नियमादि अष्टांग योग का अनुष्ठान करने से तथा परमेश्वर के प्रति अपने सभी कर्मों का अर्पण कर देने से, सत्त्व (बुद्धिगुण) और पुरुष की अन्यता-ख्याति (भेदज्ञान), सभी विघ्न-बाधाओं से रहित होकर उत्पन्न होती है तथा उसी समय अविद्या आदि पाँचों क्लेश मूल से ही उखड़ जाते हैं। [समूलकाषम्—समूल शब्द के उपपद में होने से √कष् + णमुल् (पा० सू० ३।४।३४)। उसके बाद कष् धातु का ही अनुप्रयोग]।

इसके साथ-साथ पुण्य और पाप (कुशल-अकुशल) के रूप में जो कर्मों के भाण्डार हैं वे भी जड़ से नष्ट कर दिये जाते हैं। [क्लेश का मूल है संस्कार, तो संस्कारों के साथ क्लेश, और कर्माशय भी नष्ट हो जाते हैं। समूल शब्द उपपद में है, √हन् + णमुल्—(पा० सू० ३।४।३६)।] इसके बाद निर्लेप (शुद्ध) पुरुष अकेला (केवल रूप में) अवस्थित होता है, इसे ही कैवल्य कहते हैं—यह सिद्ध हुआ। [जिस संबंध के चलते एक संबंधी के धर्म दूसरे

संबन्धी में कहे जाते हैं वह लेप है। जब पुरुष उस प्रकार के संबंध से मुक्त हो जाता है—प्रकृति से पृथक् रूप में अवस्थित होता है, वही तो मोक्ष है।]

(३. प्रथम सूत्र की व्याख्या—'अथ' शब्द का अर्थ)

तत्र 'अथ योगानुशासनम्' (पा० यो० सू० १।१) इति प्रथमसूत्रेण प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गं विषयप्रयोजनसंबन्धाधिकारिरूपमनुबन्धचतुष्टयं प्रतिपाद्यते।

अत्राथशब्दोऽधिकारार्थः स्वीक्रियते। अथशब्दस्यानेकार्थत्वे संभवति कथमारम्भार्थत्वपक्षे पक्षपातः संभवेत्? अथशब्दस्य मङ्गलाद्यनेकार्थत्वं नामलिङ्गानुशासनेनानुशिष्टं—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ।' (अमरको० ३।३।२४६) इति। अत्र प्रश्नकार्त्स्न्ययोरसंभवेऽपि आनन्तर्यमङ्गलपूर्वप्रकृतापेक्षारम्भलक्षणानां चतुर्णामर्थानां सम्भवादारम्भार्थत्वानुपपत्तिरिति चेत्—।

'अब योग का विश्लेषण होगा' (यो० सू० १।१) इस प्रथम सूत्र के द्वारा विचारशील व्यक्तियों की प्रवृत्ति के अंग के रूप में विषय (Subject-matter), प्रयोजन (Aim), संबंध (Relation) और अधिकारी (Qualified person) रूपी चार अनुबन्धों का प्रतिपादन किया जाता है। [प्रस्तुत स्थल में अनुबंध एक पारिभाषिक शब्द है। सभी शास्त्रों के आरंभ में इन चार अनुबंधों पर विचार किया जाता है—वह शास्त्र चाहे व्याकरण हो या वेदान्त, आयुर्वेद हो या ज्योतिष। शास्त्र में जिस पदार्थ का प्रतिपादन करना हो उसे **विषय** कहते हैं। किसी शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय क्या है? उसके प्रतिपादन का क्या फल (प्रयोजन) है? उस शास्त्र के विषय, फल और अधिकारियों में क्या संबन्ध है? उस शास्त्र के अध्ययन का अधिकार किन-किन व्यक्तियों को है? इन सब बातों की जानकारी जब तक नहीं होती तब तक लोगों की प्रवृत्ति उस शास्त्र की ओर नहीं होगी। अनुबन्ध-चतुष्टय के ज्ञान के अनन्तर ही लोग किसी शास्त्र में प्रवृत्ति दिखा सकते हैं। लौकिक व्यवहार में भी किसी वस्तु की ओर हम तभी अभिमुख होते हैं जब जान लेते हैं कि वह क्या है, उससे क्या लाभ है, उसके अधिकारी कौन हैं? इत्यादि।]

उक्त सूत्र में 'अथ' शब्द अधिकार (आरंभ) के अर्थ में स्वीकृत होता है। यहाँ एक शंका हो सकती है कि जब 'अथ' शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं तब क्या कारण है कि आप लोग यहाँ आरंभ के अर्थ पर ही पक्षपात कर रहे हैं ? नामलिंगानुशासन (अर्थात् अमरकोश) में 'अथ' शब्द के मंगल आदि अनेक अर्थ दिये हैं—'अथो और अथ, ये दोनों शब्द मंगल (Auspiciousness), अनन्तर (After), आरंभ (अधिकार Beginning), प्रश्न (Query) तथा पूर्णता (All)—इन अर्थों में होते हैं' (अमरकोश ३।३।२४६)। [अथ शब्द मंगल का वाचक तो नहीं होता, उसका साधन भले ही हो सकता है। अमरकोश में ऐसे शब्दों का भी संग्रह है जो किसी अर्थ के वाचक नहीं हैं—जैसे, तु, हि, च, स्म, ह आदि शब्दों का पदपूरण अर्थ देना। इन शब्दों का पदपूरण वाच्यार्थ नहीं है, अपितु वे पदपूरण के साधन मात्र हैं। ठीक वैसे ही अथ शब्द का वाच्यार्थ मंगल नहीं है,—अथ का प्रयोग देखकर हम कह सकते हैं कि यहाँ अथ से मंगल की सिद्धि होती है। अथ के दूसरे अर्थों के ये उदाहरण हैं। अनन्तर (बाद के अर्थ में)—स्नानं कृत्वाथ भुञ्जीत। आरम्भ अथ योगानुशासनम्। प्रश्न—अथ वक्तुं समर्थोऽसि (क्या तुम बोल सकते हो) ? पूर्णता—अथ धातून् ब्रूमः।]

माना कि प्रश्न और पूर्णता का अर्थ यहाँ नहीं हो सकता [क्योंकि न पतंजलि किसी से कुछ पूछना ही चाहते हैं और न पूरे योगशास्त्र का प्रतिपादन हो रहा है, ऐसा कहने में ही कोई अभिप्राय छिपा है]। फिर भी चार अर्थों की संभावना तो हो सकती है अर्थात् अनन्तर, मंगलबोधक, पूर्व में हुई बातों की अपेक्षा करने वाला या आरंभ का अर्थ ? तो, केवल आरंभ के अर्थ की संभावना मानकर [आपने अन्य तीन अर्थों का अधिकार क्यों छीन लिया ?] केवल एक अर्थ तो असिद्ध है।

मैवं मंस्थाः। विकल्पासहत्वात्। आनन्तर्यमथशब्दार्थ इति पक्षे यतः कुतश्चिदानन्तर्यं पूर्ववृत्तशमाद्यसाधारणात्कारणादानन्तर्यं वा ? न प्रथमः। 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गी० ३।५) इति न्यायेन सर्वो जन्तुरवश्यं किंचित्कृत्वा किंचित्करोत्येवेति तस्याभिधानमन्तरेणापि प्राप्ततया तदर्थाथ-शब्दप्रयोगवैयर्थ्यप्रसक्तेः।

न चरमः। शमाद्यनन्तरं योगस्य प्रवृत्तावपि तस्यानुशासनप्रवृत्त्यनुबन्धत्वेनोपात्ततया शब्दतः प्राधान्याभावात्।

[उक्त शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि] ऐसा मत सोचिये क्योंकि निम्न विकल्पों की कसौटी पर यह कसा नहीं जा सकता। यदि 'अथ' शब्द का वाच्यार्थ 'अनन्तर होना' मानते हैं तो इसका क्या अर्थ है—क्या जिस किसी भी चीज के बाद होना या [योगाभ्यास के] पूर्व में किये गये शम आदि असाधारण कारणों के बाद होना ? [शमादि = शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान। शम का अर्थ है मन का निग्रह करना, दम = बाह्येन्द्रियों का निग्रह, उपरति = संन्यास, तितिक्षा = सहिष्णुता, श्रद्धा = गुरु आदि के वाक्यादि पर विश्वास। समाधान = चित्त की एकाग्रता। ये योग के असाधारण कारण हैं। क्या इनके पश्चात् योगानुशासन करते हैं ?]

इनमें पहला विकल्प ठीक नहीं है। गीता में एक पंक्ति है—'कोई भी पदार्थ बिना कर्म किये हुए एक क्षण भी ठहर नहीं सकता' (गीता ३।५)—इस नियम से यह तो सहज-सिद्ध बात है कि कोई भी व्यक्ति कुछ करने के बाद कुछ करता ही है तो उसका नाम न लेने पर भी उसकी प्राप्ति तो हो ही जाती। अतः उसी सिद्ध बात के लिए 'अथ' शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है।

दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं है। यद्यपि शमादि कारणों के बाद ही योग की प्रवृत्ति होती है फिर भी ['अथ योगानुशासनम्' सूत्र में] यह योग अनुशासन की प्रवृत्ति पर ही निर्भर करता है, ऐसा ही दिखाया गया है; अतः शब्द की दृष्टि से योग की प्रधानता नहीं ही रहती। [योगानुशासन एक सामासिक पद है तथा तत्पुरुष समास है जिसमें उत्तरपद अर्थात् 'अनुशासन' प्रधान है। योग तो अनुशासन के अधीन है, उसका उपादान विशेषण के रूप में हुआ है। तो, 'अथ' शब्द का संबन्ध प्रधान शब्द अर्थात् अनुशासन (शास्त्र) के साथ होगा न कि अप्रधान शब्द योग के साथ। 'अथ' के द्वारा 'शमादि के बाद' अर्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि 'शमादि के बाद' का संबन्ध योग के साथ है और 'अथ' का संबन्ध अनुशासन के साथ। दूसरे शब्दों में, शमादि के बाद योग भले ही होता है पर उनसे योगानुशासन की उत्पत्ति नहीं हो सकती।]

न च शब्दतः प्रधानभूतस्यानुशासनस्य शमाद्यानन्तर्यमथ-शब्दार्थः किं न स्यादिति वदितव्यम्। अनुशासनमिति हि शास्त्रमाह। अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलसहितो योगो येन तदनुशासनमिति व्युत्पत्तेः।

आप ऐसा नहीं कह सकते कि शब्द की दृष्टि से (= समास में) जो प्रधान शब्द अनुशासन है, उसे ही शमादि के बाद मानकर 'अथ' शब्द का अर्थ क्यों

न कर लें। ऐसा इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि अनुशासन का अर्थ शास्त्र है। उसकी व्युत्पत्ति (निर्वचन) यह है—जिससे योग अनुशिष्ट (अनु + √शास्) हो अर्थात् लक्षण, भेद, उपाय और फल के साथ जिसके द्वारा योग की व्याख्या की जाय वही अनुशासन है। [उदाहरण के लिए 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १।२) में योग का **लक्षण** दिया गया है, 'वितर्कविचार०' आदि (१।१७) सूत्रों में संप्रज्ञातादि योग-**भेदों** का वर्णन हुआ है। साधनपाद में योग के लिए **उपाय** भी दिखलाये गये हैं। कैवल्यपाद में योग के फल (मोक्ष) का निरूपण हुआ है।]

अनुशासनस्य च तत्त्वज्ञानचिख्यापयिषानन्तरभावित्वेन शमदमाद्यानन्तर्यनियमाभावात्। जिज्ञासाज्ञानयोस्तु शमाद्यानन्तर्यमाम्नायते—'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृ० उ० ४।४।२३) इत्यादिना। नापि तत्त्वज्ञानचिख्यापयिषानन्तर्यमथशब्दार्थः। तस्य संभवेऽपि श्रोतृप्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरनुपयोगेनानभिधेयत्वात्।

[अब यह प्रश्न हो सकता है कि अनुशासन का अर्थ शास्त्र होता है तो ठीक है परन्तु इससे 'अथ' शब्द के अर्थ—शमादि के बाद—पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसीके उत्तर में कहते हैं—] यह अनुशासन चूँकि 'तत्त्वज्ञान का वर्णन करने की इच्छा' के अनन्तर उत्पन्न होता है, शम-दम आदि के अनन्तर होने का तो इसका नियम है ही नहीं। [जो चीज अनुशासन के पहले नियम से आती होगी, उसीका अर्थ अथ शब्द के द्वारा प्रकट हो सकता है। चूँकि अनुशासन सूत्रकार के द्वारा किया जाता है अतः सूत्रकार की इच्छा के बाद ही उन्हें शास्त्र की रचना करने की प्रवृत्ति हुई होगी। शमादि साधनों के बाद प्रवृत्ति नहीं हुई। अतः योगानुशासन शमादि के बाद नहीं होता।] शमादि के पश्चात् तो जिज्ञासा और ज्ञान उत्पन्न होते हैं, यह श्रुतियों में भी कहा है— 'इसलिए शमयुक्त, दमयुक्त, उपरत होकर, तितिक्षा लिए हुए और समाधान (विश्वास) से युक्त होकर पुरुष आत्मा में ही आत्मा को देख सकता है' (बृ० उ० ४।४।२३)। [शान्त = अन्तःकरण की तृष्णा से रहित। दान्त = बाह्येन्द्रियों पर संयम रखकर। उपरत = सभी इच्छाओं से मुक्त होकर। तितिक्षु = जीवन की रक्षा करते हुए ठंढ, गर्मी आदि विषमों को सहने वाला। समाहित = केवल आत्मा में ही चित्त की स्थापना करके।]

[अब एक और प्रश्न होगा कि 'शमादि के बाद' अर्थ हम भले ही नहीं लें किन्तु अनुशासन के पूर्व नियमतः जो शास्त्रकार की तत्त्वप्रकाशनेच्छा आती है—उसे ही (उसके बाद होना) 'अथ' का अर्थ क्यों नहीं मान लें ? इस पर उत्तर देते हैं—] 'अथ' शब्द का अर्थ 'तत्त्वज्ञान का प्रकाशन करने की इच्छा के पश्चात्' भी नहीं है। कारण यह है कि यदि ऐसा संभव हो तो भी शास्त्रकार ने जिस इच्छा के बाद शास्त्र का निर्माण किया उसका ज्ञान] न तो श्रोताओं के योगविषयक ज्ञान के लिए ही उपयोगी होगा और न उनकी योगविषयक प्रवृत्ति के ही लिए। (ज्ञान या प्रवृत्ति दोनों में से किसी का कारण वह नहीं हो सकता) अतः उसके आनन्तर्य (बाद होना) का कथन निष्फल होने के कारण वर्णन करने योग्य भी नहीं है। [ये बातें सूत्रकार की तत्त्वज्ञानप्रकाशनेच्छा को अनुशासन के पूर्व नियमतः होना मानकर ही कही गई हैं, किन्तु वास्तव में यह प्रकाशनेच्छा पूर्ववर्ती हो नहीं सकती—इसे ही आगे स्पष्ट करते हैं।]

तत्रापि निःश्रेयसहेतुतया योगानुशासनं प्रमितं न वा ? आद्ये तदभावेऽपि उपादेयत्वं भवेत्। द्वितीये तद्भावेऽपि हेयत्वं स्यात्। प्रमितं चास्य निःश्रेयसनिदानत्वम्।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।
(का० २।१२) इति श्रुतेः।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि। (गी०२।५३) इति स्मृतेश्च।

आप लोगों के पक्ष में भी यह प्रश्न हो सकता है कि योगानुशासन को निःश्रेयस (मोक्ष) के कारण के रूप में आप स्वीकार करते हैं या नहीं ? यदि पहला विकल्प लेते हैं [कि योगशास्त्र मोक्ष का कारण है] तब तो उसके (= तत्त्वज्ञान के प्रकाशन की इच्छा के) अभाव में भी योगशास्त्र की उपादेयता रहेगी ही। [योगशास्त्र से यदि मोक्ष मिले तो ज्ञान-प्रकाशन की इच्छा न होने पर भी इसे लिखना ही पड़ेगा।] अब यदि योगानुशासन को मोक्ष का हेतु सिद्ध नहीं कर सकते हैं तो [तत्त्वज्ञान के प्रकाशन की इच्छा] होने पर भी यह योगानुशासन त्याज्य ही हो जायगा। [फल यह हुआ कि तथाकथित तत्त्व-प्रकाशनेच्छा और योगानुशासन में पूर्वापर संबन्ध नहीं है क्योंकि इसमें व्यभिचार (Inconsistency) देखते हैं।]

[दूसरे विकल्प के साथ दूसरा दोष ढूँढ़ते हैं—] यह योगानुशासन (योग के द्वारा) निःश्रेयस का कारण है, यह बिल्कुल निश्चित है। इसके लिए श्रुति का प्रमाण है—'अध्यात्मयोग (आत्मा में चित्त को लगाना, निदिध्यासन, Contemplation) की प्राप्ति होने पर आत्मा (देव) का साक्षात्कार करके ज्ञानी (धीर) पुरुष हर्ष और शोक दोनों का त्याग कर देते हैं' (=मुक्त हो जाते हैं)। [काठक० २।१२)। इसके लिए स्मृति-प्रमाण भी है—'जब तुम्हारी बुद्धि समाधि की अवस्था में आत्मा में स्थिर हो जायगी तब तुम योग (योगफल अर्थात् आत्मसाक्षात्कार) प्राप्त करोगे।' (गी० २।५३)। [इन दोनो प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि योग मोक्ष का कारण है। शास्त्रकारों को तत्त्वज्ञान के प्रकाशन की इच्छा हो या नहीं योगानुशासन किया ही जायगा। अतः उक्त प्रकाशनेच्छा नियमतः योगानुशासन की पूर्ववर्तिनी नहीं हो सकती।]

विशेष—जहाँ 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य (बाद में होना) लेते हैं वहाँ निश्चित रूप से कोई काम पहले हो चुका रहता है—भले ही उस काम का प्रतिपादन नहीं हुआ हो और न उसके प्रतिपादन की आवश्यकता ही समझी गई हो। 'स्नानं कृत्वाथ गतः' वाक्य में गमन क्रिया का प्रतिपादन स्नान के बाद हुआ है, स्नान गमन के पूर्व हुआ है। भले ही उस प्रतिपादन का उपयोग कुछ न हो और न ही नियमतः स्नान और गमन की पूर्वापरता देखी जाय—फिर भी 'अथ' शब्द 'स्नान के अनन्तर' का ही बोध कराता है। यदि 'अथ' शब्द का प्रयोग हो और किसी भी पूर्व क्रिया का उल्लेख नहीं हुआ हो तो भी योग्यता के बल से निर्णय करना ही होता है कि उसके पूर्व क्या हुआ था। ऐसी अवस्था में जो क्रिया निरन्तर साथ दे उसी की पूर्ववृत्तता (Priority) माननी चाहिए।

अत एव शिष्यप्रश्नतपश्चरणरसायनोपयोगाद्यानन्तर्यं पराकृतम्। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यत्र तु ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वेनाधिकारार्थत्वं परित्यज्य साधनचतुष्टयसंपत्तिविशिष्टाधिकारिसमर्पणाय शमदमादिवाक्यविहिताच्छमादेरानन्तर्यमथशब्दार्थ इति शंकराचार्यैर्निरटङ्कि।

इसलिए, शिष्य का प्रश्न, तपश्चर्या या रसायन का उपयोग (शरीर में शक्ति लाने के लिए) आदि के **अनन्तर** (योगानुशासन होगा]—यह पक्ष ('अथ' शब्द को अनन्तर के अर्थ में लेना) खंडित हो गया। [जो लोग 'अथ' का अर्थ अनन्तर करते हैं वे लोग अपनी पुष्टि के लिए बहुत से कार्य लेते हैं। प्रश्न है कि तब योगानुशासन किस कार्य के बाद किया गया? कुछ शास्त्र

शिष्यों के द्वारा प्रश्न किये जाने के बाद शास्त्रकारों की प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं, जैसे—पाशुपतशास्त्र। कुछ शास्त्र तपस्या के बाद ज्ञानोत्पत्ति होने पर लिखे जाते हैं, जैसे—पाणिनि का व्याकरण। कुछ शास्त्र पारदादि के संयोग से बने हुए रसायनों का सेवन करने के बाद तत्त्वसाक्षात्कार होने पर लिखे जाते हैं। गुरु की आज्ञा से या लोगों पर दया करने के लिए भी शास्त्र लिखे जाते हैं। इन उपायों से शास्त्रकार शास्त्र की रचना करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी कार्य योगानुशासन के पूर्व में नियमपूर्वक नहीं माना जा सकता। जो गति तत्त्वप्रकाशनेच्छा की है, वही तो इन सबों की भी है। अतः 'अथ' का अर्थ 'अनन्तर होना' नहीं लिया जा सकता।]

वेदान्तसूत्र के प्रथम सूत्र—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (इसलिए अब ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए), इसमें [अथ शब्द का अर्थ अधिकार (आरम्भ) नहीं हो सकता क्योंकि] ब्रह्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) का आरंभ नहीं किया जा सकता अतः 'अधिकार' अर्थ को छोड़ कर, चार साधनों की संपत्ति से युक्त अधिकारी को समर्पित करने के लिए, शमदमादि वाक्य (= 'शान्तो दान्तः०') में विहित होने के कारण, शंकराचार्य ने 'अथ' शब्द का अर्थ 'शमादि छहों पदार्थों के बाद' ऐसा किया है। [इच्छा का आरंभ नहीं होता अतः शंकराचार्य ने अथ का अर्थ 'बाद' ही किया है। अब प्रश्न हुआ कि किसके बाद ? शंकराचार्य अधिकारी चुनने में बड़ी रुचि दिखलाते हैं। वह अधिकारी, जिसे ब्रह्मसूत्र सौंप सकें। अतः 'अथ' से 'अधिकारी बनने के बाद' अर्थ लेते हैं। पर अधिकारी है कौन ? 'शान्तो दान्तः' वाक्य इसके लिए तो प्रस्तुत ही है। बस, 'अथ' का अर्थ हुआ—शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान से युक्त होने पर ब्रह्म की जिज्ञासा होती है।]

विशेष—उक्त चार साधनों के नाम शंकर ने इस प्रकार गिनाये हैं—(१) नित्य और अनित्य वस्तुओं में विवेक करना, (२) ऐहिक और आमुष्मिक भोग सामग्रियों से वैराग्य, (३) शम, दमादि साधन-संपत्ति तथा (४) मुमुक्षु होना (१।१।१ का भाष्य)। वे आगे कहते हैं—तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते। (वहीं)।

(३ क. 'अथ' शब्द मंगल का द्योतक भी नहीं)

अथ मा नाम भूदानन्तर्यार्थोऽथशब्दः। मङ्गलार्थः किं न स्यात् ? मङ्गलस्य वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अगर्हिताभीष्टावाप्तिमङ्गलम्। अभीष्टं च सुखावाप्तिदुःखपरिहाररूपतयेष्टम्।

योगानुशासनस्य च सुखदुःखनिवृत्त्योरन्यतरत्वाभावान्न मङ्गलता। तथा च योगानुशासनं मङ्गलमिति न संपनीपद्यते।

अच्छा, 'अनन्तर होना' के अर्थ में 'अथ' शब्द भले ही न रहे लेकिन इसे मंगलार्थक क्यों नहीं मानते ? इसलिए नहीं मानते हैं कि मंगल के साथ वाक्य के अर्थ का संबन्ध नहीं हो सकता। अगर्हित (अनिन्द्य) तथा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति करना मंगल है। अभीष्ट वस्तु वही है जिसकी कामना लोग सुख की प्राप्ति या दुःख की निवृत्ति के रूप में करें। योगानुशासन न तो सुख है (सुख-जनक भले ही है), और न दुःख की निवृत्ति को योगानुशासन कहते हैं। अतः यह मंगल नहीं है। इस प्रकार 'योगानुशासन मंगल है', यह अर्थ सिद्ध हो ही नहीं सकता। (संपनीपद्यते = सम् + √पद् + यङ् = पुनः पुनः संपद्यते, भृशं संपद्यते)।

विशेष—जैसा कि ऊपर कह चुके हैं मंगल 'अथ' शब्द का वाच्यार्थ नहीं है—केवल उसे 'अथ' शब्द प्रकट कर सकता है। योगानुशासन स्वतः मंगल नहीं है यह सिद्ध कर ही चुके हैं। अब इस प्रश्न का विश्लेषण आगे करेंगे।

मृदङ्गध्वनेरिवाथशब्दश्रवणस्य कार्यतया मङ्गलस्य वाच्यत्व-लक्ष्यत्वयोरसंभवाच्च। यथार्थिकार्थो वाक्यार्थे न निविशते तथा कार्यमपि न निविशेत। अपदार्थत्वाविशेषात्। पदार्थ एव वाक्यार्थे समन्वीयते। अन्यथा शब्दप्रमाणकानां शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यत इति मुद्राभङ्गः कृतो भवेत्।

जिस प्रकार मंगल मृदंग (ढोलक) की ध्वनि [का कार्य] है उसी प्रकार वह 'अथ' शब्द के श्रवण (या उच्चारण) का भी कार्य ही है। अतः मंगल न तो [अथ का] वाच्यार्थ हो सकता और न ही लक्ष्यार्थ। [अथ शब्द का उच्चारण करने से मंगल की उत्पत्ति होती है, अथ शब्द का वह वाच्यार्थ नहीं। यदि वाच्यार्थ नहीं है तो लक्ष्यार्थ भी नहीं क्योंकि लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से ही संबद्ध रहता है।] जिस प्रकार अर्थापत्ति से उत्पन्न अर्थ वाक्यार्थ के साथ अन्वित नहीं हो सकता उसी प्रकार [मंगल का यह] कार्य-अर्थ भी वाक्यार्थ में नहीं आ सकता। कारण यह है कि दोनों में एक तरह से ही पद के अर्थ का तिरस्कार होता है। वाक्यार्थ से संबन्ध उसी का हो सकता है जो पद का अपना अर्थ हो। यदि ऐसा नहीं होता तो वैयाकरणों (शब्द को प्रमाण मानने वाले) के उस नियम का भंग होता जिसमें यह कहा जाता है कि शाब्दी (शब्द से संबद्ध)

आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण हो सकती है। [कोई शब्द जब किसी वाक्य के अर्थ को प्रकाशित करने में असमर्थ हो तथा किसी दूसरे शब्द की अपेक्षा रखे तो उसे शाब्दी आकांक्षा कहते हैं इसकी पूर्ति शब्द से ही हो सकती है, किसी दूसरे साधन से नहीं। यदि अर्थापत्ति के अर्थ को या कार्यरूप अर्थ (जैसे अथ का अर्थ मंगल) को वाक्यार्थ से मानने लगेंगे तो शाब्दी आकांक्षा की पूर्ति शब्द से न होकर आर्थिकार्थ या कार्यार्थ से भी होने लगेगी किन्तु वास्तव में तो शब्दार्थ से होती है। अतः उक्त नियम खंडित हो जायगा।]

विशेष—'देवदत्त दिन में नहीं खाता, पर मोटा है' इस वाक्य मे 'रात्रि-भोजन' अर्थापत्ति से प्राप्त अर्थ है, वाक्य से ऐसा अर्थ हमें मिल नहीं सकता। इसे आर्थिकार्थ कहते हैं। 'अथ' का जो 'मंगल' अर्थ करते हैं वह कार्य अर्थ है—जैसे राम का वाच्यार्थ व्यक्ति विशेष होता है वैसे 'अथ = मंगल' नहीं होता, मंगल 'अथ' के उच्चारण से उत्पन्न होता है, कार्य है। स्वभावतः ये दोनों अर्थ पदार्थ नहीं हैं, इसलिए वाक्यार्थ करने में इनका कोई महत्त्व नहीं। फलतः 'अथ योगानुशासनम्' में अथ का अर्थ मंगल लेने से योगानुशासन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होगा। केवल 'योगानुशासनम्' कहने से वाक्य अपूर्ण रह जाता जिसकी पूर्ति 'अथ' से होती है। अब यदि अथ को भी मंगलोत्पादक मान लेंगे तब तो वाक्य अपूर्ण का अपूर्ण ही रह जायगा।

ननु प्रारिप्सितप्रबन्धपरिसमाप्तिपरिपन्थिप्रत्यूहव्यूहप्रशमनाय शिष्टाचारपरिपालनाय च शास्त्रारम्भे मङ्गलाचरणमनुष्ठेयम्। 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, आयुष्मत्पुरुषकाणि वीरपुरुषकाणि च भवन्ति' (पात० भाष्य० आह्नि० ३) इत्यभियुक्तोक्तेः। भवति च मङ्गलार्थोऽथशब्दः—

२. ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

इतिस्मृतिसम्भवात्। तथा च 'वृद्धिरादैच्' (पा० सू० १।१।१) इत्यादौ वृद्ध्यादिशब्दवदथशब्दो मङ्गलार्थः स्यादिति चेत्—।

[पूर्वपक्षी लोग फिर भी 'अथ' को मंगलार्थक मानते हुए कह सकते हैं—] जिस प्रबन्ध का आरम्भ करने की इच्छा है (प्रारिप्सित) उसकी समीचीन समाप्ति के समय तक रुकावट डालने वाले (परिपन्थिन्) विघ्नों के समूह के विनाश के

लिए तथा शिष्टाचार का परिपालन करने के लिए भी शास्त्र के आरम्भ में मंगलाचरण का अनुष्ठान करना चाहिए। अभियुक्त (आप्त) पुरुषों का भी यही कहना है—'जिन शास्त्रों के आदि में, मध्य में तथा अंत में मंगल होता है वे शास्त्र प्रसिद्ध हो जाते हैं। उनके अध्येता आयुष्मान् तथा वीर (शास्त्रार्थ में अपराजित) होते हैं।' (महाभाष्य, आह्निक ३, पा० सू० १।१।१ पर)।

मंगल के अर्थ में 'अथ' शब्द होता भी है—'ओम् और अथ शब्द ये दोनों प्राचीन काल में ब्रह्मा के कंठ को छेद कर बाहर निकले (=ब्रह्मा की इच्छा के बिना निकले), इसलिए ये दोनों मांगलिक कहलाये।' ऐसा स्मृति से चला आ रहा है। इसलिए 'वृद्धिरादैच्' (पाणिनि का प्रथम सूत्र) में वृद्धि-आदि शब्द की तरह 'अथ' शब्द भी मंगल के अर्थ में हो सकता है।

मैवं भाषिष्ठाः। अर्थान्तराभिधानाय प्रयुक्तस्याथशब्दस्य वीणावेण्वादिध्वनिवत् श्रवणमात्रेण मङ्गलफलत्वोपपत्तेः। अथार्थान्तरारम्भवाक्यार्थधीफलकस्याथशब्दस्य कथमन्यफलकतेति चेन्न। अन्यार्थं नीयमानोदकुम्भोपलम्भवत्तत्संभवात्। न च स्मृतिव्याकोपः। माङ्गलिकाविति मङ्गलप्रयोजनत्वविवक्षया प्रवृत्तेः।

[उक्त शंका का उत्तर इस प्रकार है—] ऐसा मत कहिये। 'अथ' शब्द किसी दूसरे अर्थ के प्रकाशन के लिए प्रयुक्त हुआ है; वीणा, वेणु (बाँसुरी) आदि की ध्वनि की तरह केवल इसके श्रवण करने से ही मंगलात्मक फल की सिद्धि होती है। ['वृद्धिरादैच्' में वृद्धि का अर्थ मंगल नहीं है, वृद्धि तो पाणिनि-व्याकरण की एक संज्ञा है। संज्ञा का बोधक होने पर भी इस शब्द के उच्चारण या श्रवण से मंगल की सिद्धि होती है। उसी प्रकार 'अथ' शब्द का अर्थ दूसरा कुछ है किन्तु इसके श्रवण से मंगलाचरण होता ही है। अतः ऐसे शब्दों से दो-दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं।]

[इस उत्तर पर भी कोई पूछ सकता है कि] मंगलार्थ के अतिरिक्त, आरंभ [आदि अर्थों] का बोध (धी) वाक्यार्थ में कराने वाले 'अथ' शब्द से दूसरे फल (अर्थ) कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? (यह कैसे सम्भव है कि 'अथ' से आरंभ का वाच्यार्थ भी निकले और मंगल भी व्यक्त हो ?) ऐसा नहीं सोचना चाहिए। जिस प्रकार दूसरे काम से ले जाये जाने वाले पानी से भरे घड़े को देखने से [यात्रा पर निकले हुए व्यक्ति का शुभ शकुन होता है], उसी प्रकार यह भी

संभव है। ऐसा मानने पर भी उक्त स्मृति (तस्मान्माङ्गलिकावुभौ) का खंडन नहीं होता। 'माङ्गलिकौ' कहने का अर्थ [यह नहीं है कि ओम् और अथ का वाच्यार्थ ही मंगल है प्रत्युत] 'इसका लक्ष्य मंगल है' इसी विवक्षा से उक्त शब्द प्रयुक्त किया गया है।

विशेष--अब अथ शब्द के 'पूर्वप्रकृत की अपेक्षा रखना' अर्थ का खंडन करके अंत में 'आरंभ' अर्थ में इसकी सिद्धि करेंगे।

(४. 'अथ' का अर्थ आरम्भ या अधिकार)

नापि पूर्वप्रकृतापेक्षोऽथशब्दः। फलत आनन्तर्याव्यतिरेकेण प्रागुक्तदूषणानुषङ्गात्। किमयमथशब्दोऽधिकारार्थोऽथानन्तर्यार्थ इत्यादिविमर्शवाक्ये पक्षान्तरोपन्यासे तत्सम्भवेऽपि प्रकृते तदसम्भवाच्च।

ऐसी बात भी नहीं है कि 'अथ' शब्द से पहले से प्रस्तुत वस्तु की अपेक्षा रखी जाय। [योग्यता के बल से शम-दमादि या शिष्य का प्रश्न या प्रकाशनेच्छा आदि के रूप में कुछ न कुछ पूर्वप्रकृत वस्तु स्वीकार करनी पड़ेगी] फलतः यह अर्थ आनन्तर्य अर्थ से भिन्न नहीं है जो-जो दोष उस अर्थ को स्वीकार करने पर लगाये जाते हैं वे यहाँ भी प्राप्त हो जायँगे। 'यह अथ-शब्द क्या अधिकार के अर्थ में होता है या आनन्तर्य के अर्थ में ?' इस प्रकार के विमर्श (विभिन्न मत) के बोधक वाक्य में दूसरे पक्ष की स्थापना करने पर ये अर्थ (आनन्तर्य और अधिकार) सम्भव भी हैं किन्तु प्रस्तुत अर्थ लेने पर तो वह (पक्षान्तर की स्थापना) सम्भव ही नहीं [क्योंकि कोई भी पूर्वप्रकृत वस्तु नहीं मिलती है। नित्य रूप से साकांक्ष न रहने के कारण कोई अर्थ पहले से नहीं मान सकते।]

तस्मात्पारिशेष्यादधिकारपदवेदनीयप्रारम्भार्थोऽथशब्द इति विशेषो भाष्यते। यथा 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिः' इत्यत्राथशब्दः क्रतुविशेषप्रारम्भार्थः परिगृहीतः, यथा च 'अथ शब्दानुशासनम्' (पात० भा० १।१) इत्यत्राथशब्दो व्याकरणशास्त्राधिकारार्थस्तद्वत्।

इसलिए अब परिशेष-नियम से (कोई दूसरा विकल्प न मिलने से) 'अथ' शब्द का अर्थ प्रारम्भ है जिसे 'अधिकार' शब्द के द्वारा भी समझते हैं—भाष्यकार (व्यास) ने इसे स्पष्ट किया है। जैसे—'अब (अथ) यह ज्योति-यज्ञ है,

अब यह विश्व ज्योति-यज्ञ है' (ताण्ड्य ब्राह्मण १६।८।१, १६।१०।१)—यहाँ पर प्रयुक्त 'अथ' शब्द विशेष क्रतु (यज्ञ) को प्रारम्भ करने के अर्थ में लिया गया है। उसी प्रकार जैसे 'अब (अथ) शब्दानुशासन होता है' (महाभाष्य का प्रथम वाक्य)—यहाँ भी 'अथ' शब्द व्याकरण-शास्त्र के आरम्भ के अर्थ में आया है वैसे ही [प्रस्तुत प्रसंग में भी समझें ।]

तदभाषि व्यासभाष्ये योगसूत्रविवरणपरे अथेत्ययमधिकारार्थः प्रयुज्यते इति । तद् व्याचख्यौ वाचस्पतिः । तदित्थम्—अमुष्याथशब्दस्याधिकारार्थत्वपक्षे शास्त्रेण प्रस्तूयमानस्य योगस्योपवर्तनात्समस्तशास्त्रतात्पर्यार्थव्याख्यानेन शिष्यस्य सुखावबोधप्रवृत्तिर्भवतीत्यथशब्दस्याधिकारार्थत्वमुपपन्नम् ।

योगसूत्र का विवरण (व्याख्या) करनेवाले व्यासभाष्य में भी कहा गया है कि 'अथ' शब्द अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। [व्यास की इस पंक्ति की] व्याख्या वाचस्पति ने [अपनी तत्त्ववैशारदी टीका में] की है। वह इस प्रकार है—इस अथ शब्द को अधिकार के अर्थ में ले लेने पर शास्त्र के द्वारा प्रस्तुत किये जानेवाले योग का प्रतिपादन (उपवर्तन) करना सम्भव है। पूरे शास्त्र के तात्पर्यार्थ की व्याख्या करने से शिष्य में सरलता से समझने की प्रवृत्ति होगी, इसलिए 'अथ' शब्द अधिकार के अर्थ में हुआ है, यह सिद्ध हुआ। [हम ऊपर देख चुके हैं कि 'अथ' का अर्थ 'आनन्तर्य' लेने पर इसका उपयोग न तो श्रोता के बोध के लिए है और न उसकी प्रवृत्ति के लिए। ऐसी बात 'अधिकार' अर्थ लेने पर नहीं होती। योगशास्त्र का आरम्भ हो रहा है जिसमें सभी शास्त्रों के तात्पर्यार्थ की विवृति हुई है—इस शास्त्र की सहायता से इसका बोध आसानी से श्रोताओं को हो जायगा। यही नहीं, सामान्य ज्ञान हो जाने पर विशेषतः शास्त्रावलोकन की प्रवृत्ति भी होगी। इसलिए अथ का यही अर्थ सर्वथा समीचीन है।]

ननु 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः पतञ्जलिः कथं योगस्य शासितेति—अद्धा । अतएव तत्र तत्र पुराणादौ विशिष्य योगस्य विप्रकीर्णतया दुर्ग्राह्यार्थत्वं मन्यमानेन भगवता कृपासिन्धुना फणिपतिना सारं संजिघृक्षुणानुशासनमारब्धं न तु साक्षाच्छासनम् । यदायमथ-

शब्दोऽधिकारार्थस्तदैवं वाक्यार्थः सम्पद्यते—योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यमिति। तस्मादयमथशब्दोऽधिकार-द्योतको मङ्गलार्थश्चेति सिद्धम्।

अब प्रश्न हो सकता है कि 'योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, कोई दूसरे पुरातन ऋषि नहीं' ऐसा याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा गया है तो पतंजलि को योग का शास्त्रकार क्यों मानते हैं? ठीक है इसीलिए तो, जहाँ-तहाँ पुराण आदि में योग की विवेचना विशिष्टरूप से [एक स्थान पर नहीं होकर] बिखरी हुई होने के कारण, समझने में कठिन जानकर, कृपा के सागर भगवान् शेषनाग [के अवतार पतंजलि] ने, उस योग का सारांश ग्रहण करने की इच्छा से अनुशासन (प्रथम प्रकाशन के पश्चात् उसका संकलन) किया है, साक्षात् शासन (नये शास्त्र की रचना) नहीं। [पुराणों में प्रसंग के अनुसार जहाँ-तहाँ योग के खंडों का ही वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ विष्णुपुराण (६।७), गरुड-पुराण (अध्याय १४ तथा ४९), मार्कण्डेय पुराण (अध्याय ३९) तथा लिङ्गपुराण (अध्याय ९) में योग का प्रतिपादन हुआ है, पर कहीं पूर्ण वर्णन नहीं। इसीलिए उन सभी स्थानों का सार ग्रहण करके पतंजलि ने योगशास्त्र लिखा—प्रथम शासन नहीं है, यह अनु-शासन है।]

यह 'अथ' शब्द जब अधिकार के अर्थ में लिया जाता है तब वाक्यार्थ इस तरह सम्पन्न होता है—योगानुशासन नाम के शास्त्र का आरम्भ हो गया, ऐसा समझें। इसलिए 'अथ' शब्द अधिकार का द्योतक है और मङ्गल का प्रयोजन रखता है—यह सिद्ध हुआ।

(५. योग के चार अनुबन्ध)

तत्र शास्त्रे व्युत्पाद्यमानतया योगः ससाधनः सफलो विषयः। तद्व्युत्पादनमवान्तरफलम्। व्युत्पादितस्य योगस्य कैवल्यं परमप्रयोजनम्। शास्त्रयोगयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव-लक्षणः संबन्धः। योगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावलक्षणः संबन्धः। स च श्रुत्यादिप्रसिद्ध इति प्रागेवावादिषम्। मोक्षम-पेक्षमाणा एवाधिकारिण इत्यर्थसिद्धम्।

इस शास्त्र में व्युत्पादित (प्रतिपादित) होने के कारण, साधनों और फलों के सहित योग (चित्तवृत्ति का निरोध) ही इसका **विषय** है। योग का प्रति-पादन करना गौण फल (प्रयोजन) है जब कि प्रतिपादित किये गये योग का

परम **प्रयोजन** कैवल्य (मोक्ष) है। शास्त्र और योग के बीच में एक प्रतिपादक है दूसरा प्रतिपाद्य—यही **संबन्ध** है। योग और कैवल्य के बीच में एक साधन है दूसरा साध्य, ऐसा संबन्ध है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह (संबन्ध) श्रुति, स्मृति आदि में प्रसिद्ध है। यह तो अर्थ से ही सिद्ध है कि इसके **अधिकारी** वे ही लोग हैं जो मोक्ष की अपेक्षा करते हैं। [यदि 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य होता तो शमादि साधनों से युक्त पुरुषों को अधिकारी मानना पड़ता। किन्तु यहाँ योग का फल मोक्ष को स्वीकार करके—'अध्यात्मयोगाधिगमेन' के आधार पर—मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी मानते हैं। अब यह दिखलाते हैं कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में अधिकारी की सिद्धि अर्थ से ही क्यों नहीं होती, अलग से अधिकारी का निरूपण करने की क्या आवश्यकता है ?

न च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यादावधिकारिणोऽर्थतः सिद्धिराशङ्कनीया। तत्राथशब्देनानन्तर्याभिधानप्रणाडिकयाऽधिकारिसमर्पणसिद्धौ आर्थिकत्वशङ्कानुदयात्। अत एवोक्तं—श्रुतिप्राप्ते प्रकरणादीनामनवकाश इति। अस्यार्थः—यत्र हि श्रुत्यार्थो न लभ्यते तत्रैव प्रकरणादयोऽर्थं समर्पयन्ति नेतरत्र। यत्र तु शब्दादेवार्थस्योपलम्भस्तत्र नेतरस्य संभवः।

ऐसा संदेह नहीं करना चाहिए कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) में भी अधिकारी की सिद्धि अर्थ से ही हो जायगी। [शंका करने वालों का तात्पर्य है कि इस सूत्र में भी 'अथ' का अर्थ अधिकार ही क्यों न मान लें ? तब श्रुति प्रमाण के रूप में मिल जायगी—तमेवं विद्वानमृत इह भवति (श्वेता० ३।८) जिससे ब्रह्मज्ञान का फल मोक्ष मान लेंगे। फलतः मोक्ष का इच्छुक पुरुष अधिकारी है, यह अर्थ से ही सिद्ध हो जायगा। इसका उत्तर देते हैं।] वहाँ पर प्रयुक्त 'अथ' शब्द से आनन्तर्य-अर्थ का बोध होता है तथा यह सिद्ध होता है कि [सिद्धान्तों या अर्थों का] समर्पण (Transmission) एक निश्चित परम्परा से ही अधिकारियों को होता है, अतः उस अर्थ को अर्थतः सिद्ध करने की शंका ही नहीं उठती। [जब किसी बात की सिद्धि सीधे ही या परम्परा से हो सकती हो तो अर्थ से सिद्ध करने की बात नहीं उठती।]

इसीलिए कहा गया है—[निश्चयात्मक प्रमाण के रूप में] जब श्रुति प्राप्त हो रही हो तो प्रकरण आदि का अवकाश वहाँ नहीं रहता' (तुलनीय—

ब्र० सू० ३।३।४९)। इसका अर्थ यह है—जहाँ श्रुति (शब्द) से अर्थ प्राप्त न हो वहीं पर प्रकरण आदि प्रमाण अर्थ के प्रकाशन या निर्णय में सहायता करते हैं, अन्यत्र नहीं। जहाँ शब्द से ही अर्थ की प्राप्ति हो जाय वहाँ दूसरे साधन की संभावना भी नहीं होती।

शीघ्रबोधिन्या श्रुत्या विनियोगस्य बोधनेन निराकाङ्क्षतयेतरेषामनवकाशात्। किं च श्रुत्या बोधितेऽर्थे तद्विरुद्धार्थं प्रकरणादि समर्पयति, अविरुद्धं वा? न प्रथमः। विरुद्धार्थबोधकस्य तस्य बाधितत्वात्। न चरमः। वैयर्थ्यात्। तदाह—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१४) इति।

[जब किसी यज्ञ में किसी मंत्र के] विनियोग का बोध उस श्रुति-प्रमाण से होता है जो तुरत बोध कराने में समर्थ है तब और किसी की आकांक्षा न रहने के कारण दूसरे प्रमाणों की प्राप्ति नहीं होती। ['अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में अथ का अर्थ अधिकार ले लेने से 'किसके द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा की जाय ?' इस प्रकार अधिकारी की आकांक्षा होती है, मोक्ष के वाक्यों को देखकर उनसे कैसे मोक्ष उत्पन्न होता है, उस प्रकार साधन की आकांक्षा होती है। यह आकांक्षा ही 'प्रकरण' के नाम से पुकारी जाती है। प्रकरण के बल से ही 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में मोक्ष के वाक्यों के साथ इसकी संगति अनुमान से बैठायी जाती है अर्थात् 'ब्रह्मजिज्ञासा मोक्ष का साधन है' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। उस लिंग से मुमुक्षु व्यक्ति को 'ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए' ऐसा शब्द मालूम होता है। इस प्रकार प्रकरण के बाद वाक्य और तब लिंग और उसके अनन्तर शब्द—इस रूप में अधिकारी की प्राप्ति बहुत विलम्ब से होती है। यदि दूसरी ओर, अथ का अर्थ 'आनन्तर्य' लें तब तो अथ शब्द के अर्थ के बल से (श्रुति से) ही अधिकारी की प्रतीति हो जाती है कि साधन-चतुष्टय से संपन्न व्यक्ति ही अधिकारी हो सकता है। अभिप्राय यह है कि योगसूत्र के 'अथ' और ब्रह्मसूत्र के 'अथ' के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं क्योंकि दोनों की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं।]

इसके अतिरिक्त यह पूछा जाय कि श्रुति से अर्थ-बोध होने पर प्रकरण आदि से उसके (श्रुति के अर्थ के) विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है या अविरुद्ध अर्थ की ? विरुद्ध अर्थ प्रतीति तो नहीं हो सकती क्योंकि जो विरुद्ध अर्थ का बोध करावेगा वह प्रकरणादि बाधित (खंडित) हो जायगा। यदि अविरुद्ध अर्थ की

प्रतीति होती हो तब तो वह व्यर्थ ही हो जायगा। इसे कहा भी है 'श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या, इनका एक स्थान पर संघर्ष उत्पन्न होने पर क्रम में पीछे आनेवाला प्रमाण दुर्बल पड़ता है क्योंकि उसमें अर्थ बहुत दूर पड़ जाता है' (मी० सू० ३।३।१४)।

३. बाधिकैव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा।
मध्यमानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया ॥ इति च।

तस्माद्विषयादिमत्त्वात् ब्रह्मविचारकशास्त्रवद्योगानुशासनमारम्भणीयमिति स्थितम्।

[उक्त छह प्रमाणों में बाध्यबाधक संबन्ध का निर्णय इस प्रकार है—] श्रुति केवल बाधक बन सकती है, (बाध्य नहीं क्योंकि इसके पहले कोई प्रमाण नहीं होता)। समाख्या केवल बाध्य बन सकती है, (बाधक नहीं, क्योंकि इसके बाद कोई प्रमाण नहीं होता)। बीच के प्रमाण [अपने पूर्व क्रम के प्रमाणों के साथ संघर्ष होने पर] अपेक्षा से बाध्य होते हैं या [अपने बाद के क्रम के प्रमाणों के साथ संघर्ष होने पर] बाधक भी होते हैं।

इस प्रकार इस [पूरे विवेचन] के पश्चात् यह सिद्ध हुआ कि विषय आदि अनुबन्धों से युक्त होने के कारण, ब्रह्म का विचार करनेवाले (वेदान्त) शास्त्र की तरह, योगानुशासन (योगशास्त्र) का भी आरम्भ करना चाहिए।

(६. योग और शास्त्र में सम्बन्ध)

ननु व्युत्पाद्यमानतया योग एवात्र प्रस्तुतो न शास्त्रमिति चेत्—सत्यम्। प्रतिपाद्यतया योगः प्राधान्येन प्रस्तुतः। स च तद्विषयेण शास्त्रेण प्रतिपाद्यत इति तत्प्रतिपादने करणं शास्त्रम्। करणगोचरश्च कर्तृव्यापारो न कर्मगोचरतामाचरति।

[अभी भी कोई शंका कर सकता है कि] उत्पन्न करने की वस्तु तो योग है अतः योग ही यहाँ पर प्रस्तुत है न कि शास्त्र। [उत्तर में कहेंगे कि] बात ठीक है। प्रतिपाद्य होने के कारण प्रधानरूप से योग ही प्रस्तुत हो रहा है लेकिन उसका प्रतिपादन योग-विषयक शास्त्र से होता है, अतः योग के प्रतिपादन में करण (साधन) का काम शास्त्र ही करता है। यह सामान्य नियम है कि कर्ता का व्यापार (क्रिया) करण से ही अधिक सम्बन्ध रखता है कर्म से नहीं।

यथा छेत्तुर्देवदत्तस्य व्यापारभूतमुद्यमननिपातादिकर्म करणभूतपरशुगोचरं न कर्मभूतवृक्षादिगोचरम्। तथा च वक्तुः पतञ्जलेः प्रवचनव्यापारापेक्षया योगविषयस्याधिकृतता करणस्य शास्त्रस्य। अभिधानव्यापारापेक्षया तु योगस्यैवेति विभागः। ततश्च योगशास्त्रस्यारम्भः संभावनां भजते।

जैसे वृक्ष को काटनेवाले देवदत्त का व्यापार अर्थात् [कुल्हाड़ी] ऊपर उठाना, गिराना आदि कार्य (क्रियाएँ) परशु (कुल्हाड़ी) रूपी करण से संबद्ध है, वृक्षादिरूपी कर्म से नहीं। उसी प्रकार यहाँ पर वक्ता पतंजलि का प्रवचनरूपी व्यापार (क्रिया) हो रहा है। जिसका विषय योग है ऐसे करण-स्वरूप शास्त्र का ही आरम्भ उस व्यापार के द्वारा अपेक्षित है। ['पतञ्जलिः योगं शास्त्रेण प्रवक्ति' इस वाक्य से ही मालूम हो जायगा कि कौन किस कारक में हैं। इसीलिए कर्म की अपेक्षा करण की प्रधानता होने के कारण, शास्त्र का ही सम्बन्ध पतंजलि के प्रवचन से है, न कि योग का।] पतंजलि का व्यापार यदि [प्रवचन करना न होकर] अभिधान करना हो तब तो योग का आरम्भ मानें—यही विभाजन-रेखा है। तब योगशास्त्र के आरम्भ की सम्भावना हो सकती है।

(७. योग का लक्षण और समाधि)

अत्र चानुशासनीयो योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इत्युच्यते। ननु युजिर्योग इति संयोगार्थतया परिपठिताद् युजेर्निष्पन्नो योगशब्दः संयोगवचन एव स्यान्न तु निरोधवचनः। अत एवोक्तं याज्ञवल्क्येन—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः। इति।

यहाँ यह कहना है कि जिस योग का अनुशासन करना अभीष्ट है उसका लक्षण है, चित्त की वृत्तियों का निरोध। अब प्रश्न हो सकता है कि '√युज्=योग करना' इस प्रकार संयोग के अर्थ पढ़े गये युज्-धातु से बना हुआ योग शब्द संयोग का वाचक हो सकता है निरोध का वाचक नहीं। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा है—'जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को ही योग कहा गया है।'

तदेतद्वार्तम् । जीवपरयोः संयोगे कारणस्यान्यतरकर्मादेर-संभवात् । अजसंयोगस्य कणभक्षाक्षचरणादिभिः प्रतिक्षेपाच्च । मीमांसकमतानुसारेण तदङ्गीकारेऽपि नित्यसिद्धस्य तस्य साध्य-त्वाभावेन शास्त्रवैफल्यापत्तेश्च । धातूनामनेकार्थत्वेन युजेः समा-ध्यर्थत्वोपपत्तेश्च । तदुक्तम्—

४. निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः ।
अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम् ॥ इति ।

[उक्त शंका] निस्सार है क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा के संयोग के लिए, कारण के रूप में उन दोनों में से किसी में भी क्रिया आदि का होना असंभव है। [न तो जीवात्मा ही चल सकता है न परमात्मा, अतः दोनों का संयोग ही नहीं होगा। संयोग होने के तीन प्रकार हैं—(१) दो संयोगी पदार्थों में किसी एक की क्रिया से उत्पन्न संयोग, जैसे—पक्षी के बैठने से वृक्ष और पक्षी का संयोग। (२) दोनों पदार्थों की क्रिया से उत्पन्न संयोग—दो पहलवानों का संयोग, (३) संयोग से उत्पन्न संयोग जैसे—हाथ और वृक्ष के संयोग से शरीर और वृक्ष का संयोग। यह भेद काल्पनिक है। जीव और परमात्मा में कोई भी भेद सम्भव नहीं क्योंकि वे विभु हैं।]

[अब यदि आपलोग दोनों के संयोग को नित्य मानकर उक्त कठिनाई से बच जाना चाहते हैं तो हम कहेंगे कि] नित्य संयोग को तो कणाद और गौतम आदि ऋषियों ने ही नहीं माना है। [संयोग की नित्यता संयोगी पदार्थों की नित्यता पर भी निर्भर करती है। इस दृष्टि से घट और पट का या घट और आकाश का संयोग नित्य नहीं है। दोनों संयोगियों के नित्य होने पर भी संयोग की अनित्यता देखते हैं। दो परमाणु नित्य हैं पर उनका संयोग तो अनित्य है। वास्तव में संयोग एक क्रिया है जिसकी उत्पत्ति होती है, विनाश होता है। दो संयोगियों में एक के विभु रहने पर भी स्थान का भेद तो होगा ही और संयोग की उत्पत्ति नये प्रकार से होती रहेगी—अतः संयोग कार्य ही बना रहेगा। दोनों संयोगियों के विभु होने पर संयोग नित्य होगा किन्तु ऐसे संयोग से काम ही क्या होगा ? कार्य भी नित्य ही रहेगा। उस संयोग के लिए चेष्टा ही क्यों होगी ? ऐसे सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। संयोग सदा अनित्य रहता है।]

मीमांसकों के मतानुसार यदि नित्य संयोग स्वीकार करें तो भी इस (नित्य संयोग) का कोई साध्य (प्रयोजन, लक्ष्य) नहीं मिल सकता। (यदि जीवात्मा

परमात्मा में संयोग नित्य हो तो यह हमारा लक्ष्य नहीं बन सकता क्योंकि वह पहले से ही सिद्ध है इसके लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं ।] अतः योगशास्त्र की प्रक्रियायें भी व्यर्थ हो जायेंगी । [इससे बचने का उपाय यह है कि] धातु अनेकार्थक होते हैं और इसीलिए युज्-धातु को समाधि के अर्थ में भी सिद्ध किया जा सकता है । यही कहा है—'निपात, उपसर्ग और धातु, ये तीनों अनेकार्थ माने गये हैं, उनके पाठों में जो उदाहरण मिलते हैं [वे ही इसके प्रमाण हैं ।]'

अत एव केचन युजिं समाधावपि पठन्ति—'युज समाधौ' (पा० धातुपाठ, दि० ७१, आत्मने०) इति । नापि याज्ञवल्क्य-वचनव्याकोपः । तत्रस्थस्यापि योगशब्दस्य समाध्यर्थत्वात् ।

५. समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः ॥

इति तेनोक्तत्वाच्च । तदुक्तं भगवता व्यासेन (योग भा० १।१) योगः समाधिरिति ।

इसीलिए कुछ लोग (पाणिनि आदि) युज्-धातु का अर्थ समाधि भी मानते हैं और तदनुसार उनके धातुपाठ में मिलता भी है—'युज समाधौ' (दिवादि ७१, आत्मनेपद)। याज्ञवल्क्य की बात का भी इससे खंडन नहीं होता। याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त वाक्य में भी योग-शब्द समाधि के अर्थ में ही है । [जीव और परमात्मा का संयोग अर्थात् सम्यक् योग = साम्यावस्था ही योग (= समाधि) कहलाता है। बुद्धि आदि कल्पित उपाधियों से युक्त धर्मों को छोड़कर स्वाभाविक अनासक्ति के रूप में जीव की, परमात्मा की तरह, अवस्थिति हो जाने को साम्यावस्था कहते हैं। इसी का प्रतिपादन 'निरञ्जनः परमं साम्य-मुपैति' (मुं० ३।१।३) इत्यादि श्रुतियों में हुआ है, यही मुक्ति है ।]

याज्ञवल्क्य स्वयं कहते हैं—'जीवात्मा और परमात्मा की साम्यावस्था समाधि है। जीवात्मा की जब स्थिति ब्रह्म में हो जाय वही समाधि है ।' इसे व्यास ने भी भाष्य (योगभाष्य २।१) में कहा है—योग समाधि को ही कहते हैं ।

(७ क. योग का अर्थ समाधि—आपत्ति)

नन्वेवमष्टाङ्गयोगे चरमस्याङ्गस्य समाधित्वमुक्तं पतञ्जलिना पात० यो० सू० २।२९)—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-

धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्य' इति । न चाङ्गी एवाङ्गतां गन्तुमुत्सहते । उपकार्योपकारकभावस्य दर्शपूर्णमास-प्रयाजादौ भिन्नायतनत्वेनात्यन्तभेदात् । अतः समाधिरपि न योगशब्दार्थो युज्यत इति चेत्— ।

इस प्रकार एक शंका हो सकती है। ऐसा होने पर योग के आठ अंगों में अंतिम अंग को जो पतञ्जलि ने समाधि कहा है, इसका क्या उत्तर होगा ?' संबद्ध सूत्र यह है—'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये योग के आठ अंग हैं' (योगसूत्र २।२९)। अंगी (योग) अंग नहीं बन सकता । [यदि योग का अर्थ समाधि लेते हैं तब तो योग या समाधि ही अंगी है जिसके आठ अंग हैं। पुनः समाधि को एक अंग भी मानते हैं अतः उपकारक और उपकार्य एक ही मानना पड़ता है जो संभव नहीं। फल यह होगा कि चित्तवृत्तिनिरोध वाले सूत्र तथा प्रस्तुत 'यमनियम०' सूत्र में विरोध होगा। योग और समाधि में अन्तर करना ही पड़ेगा —एक अंगी (उपकार्य) है, दूसरा अंग (उपकारक)।]

दर्श-पूर्णमास (उपकार्य, अंगी) तथा प्रयाज (उपकारक, अंग) के संबन्ध की तरह उपकार्य और उपकारक का संबन्ध, दोनों के आश्रय भिन्न रहने के कारण, आत्यन्तिक भेद की अपेक्षा रखता है। इसलिए योग शब्द का समाधि अर्थ रखना युक्तियुक्त नहीं है।

तन्न युज्यते। व्युत्पत्तिमात्राभिधित्सया 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (पात० यो० सू० ३।३)इति निरूपितचरमाङ्गवाचकेन समाधिशब्देनाङ्गिनो योगस्याभेदविवक्षया व्यपदेशोपपत्तेः। न च व्युत्पत्तिबलादेव सर्वत्रशब्दः प्रवर्तते। तथात्वे गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तेस्तिष्ठन्गौर्न स्यात्। गच्छन्देवदत्तश्च गौः स्यात्।

[उक्त शंका का समाधान—] यह तर्क ठीक नहीं है। केवल व्युत्पत्ति (प्रकृति और प्रत्यय से उत्पन्न अवयवार्थ) जनित अर्थ कहने की इच्छा से ही—'उस ध्यान में ही जब केवल दृश्य अर्थ की प्रतीति होती है तथा जो अपने किसी भी रूप से शून्य हो जाता है तब उसे समाधि कहते हैं' (यो० सू० ३।३)—इस सूत्र में निरूपित अन्तिम अङ्ग के वाचक समाधि शब्द से अङ्गी योग-शब्द का अभेद बतलाने के लिए ही व्यास ने वैसा (योगः समाधिः) कहा है। [व्यास

ने अपने भाष्य में योग का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ ही समाधि को बतलाया है। व्यावहारिक अर्थ जिसे प्रवृत्तिनिमित्त भी कहते हैं, तो कुछ दूसरा ही है—चित्तवृत्ति का निरोध। व्युत्पत्तिजन्य अर्थ भी कुछ देना ही था, इसीलिए समाधि का पीछा किया गया। ऐसी बात नहीं कि समाधि ही योग का सदा के लिए अर्थ है। व्युत्पत्तिजन्य अर्थ का जो अधिकार है वही इसे भी प्राप्त है।]

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि शब्द की प्रवृत्ति (व्यवहार) सब जगह व्युत्पत्ति के बल से ही होती है। यदि ऐसा हुआ करता तब तो 'जानेवाली वस्तु को गौ (√गम्) कहते हैं' अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार गौ कभी भी स्थिर नहीं हो सकती। उधर यदि देवदत्त नाम का कोई व्यक्ति चलायमान होता तो उसे भी गौ ही कहते। [इसीलिए योग शब्द की व्युत्पत्ति से उत्पन्न अर्थ ही इसका परमार्थ या व्यवहारार्थ (प्रवृत्तिनिमित्त) नहीं है। यौगिक शब्दों के साथ ऐसी बात भले ही हो क्योंकि वहाँ अवयवों का अर्थ ही प्रवृत्तिनिमित्त होता है। योगरूढ या रूढ शब्दों में तो व्युत्पत्तिनिमित्त की अपेक्षा प्रवृत्तिनिमित्त ही प्रधान रहता है। उसी के अनुसार शब्द का प्रयोग होता है। 'गो' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त (व्यवहारार्थ) है 'गोत्व', जबकि व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है गमन क्रिया का आधार। 'गो' शब्द का व्यवहार व्युत्पत्तिजन्य अर्थ के अनुसार नहीं होता। उसी तरह 'योग' शब्द का व्यवहार भी प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार ही होता है क्योंकि यह रूढ शब्द है। योग का अर्थ 'समाधि' तो व्युत्पत्तिनिमित्त (Derivative meaning) होने के कारण गौण है।]

(७ ख. योग का व्यावहारिक अर्थ—चित्तवृत्तिनिरोध)

प्रवृत्तिनिमित्तं च प्रागुक्तमेव—चित्तवृत्तिनिरोध इति। तदुक्तं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (पात. यो. सू. १।२) इति।

ननु वृत्तीनां निरोधश्चेद्योगोऽभिमतस्तासां ज्ञानत्वेनात्माश्रयतया तन्निरोधोऽपि प्रध्वंसपदवेदनीयस्तदाश्रयो भवेत्। प्रागभावप्रध्वंसयोः प्रतियोगिसमानाश्रयत्वनियमात्। ततश्च—'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायेनात्मनः कौटस्थ्यं विहन्येतेति चेत्—।

योग का प्रवृत्तिनिमित्त (Usage) तो पहले ही बतलाया गया कि चित्तवृत्ति का निरोध है। सूत्रकार ने कहा भी है—'चित्त की वृत्तियों का

निरोध हो जाना योग है' (यो० सू० १।२)। [वृत्तियाँ पाँच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति (यो० सू० १।६)। अज्ञात वस्तु का निश्चय कराने वाली वृत्ति प्रमाण है। विपर्यय = मिथ्याज्ञान। वास्तविकता से दूर तथा काल्पनिक प्रतीति को विकल्प कहते हैं जैसे यह ब्राह्मण सूर्य है, खरहे की सींग आदि। इनका निरोध हो जाना ही योग है।]

अब एक शंका होती है कि यदि आप वृत्तियों के निरोध (विनाश) को योग मानते हैं तो ये वृत्तियाँ, ज्ञान होने के कारण, आत्मा पर आश्रित होंगी और इनका निरोध अर्थात् प्रध्वंस (विनाश) भी उसी आत्मा पर आश्रित हो जायेगा। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव अपने प्रतियोगी के आधार पर ही निर्भर करते हैं। [जिस वस्तु का अभाव होता है वह अभाव का प्रतियोगी होता है। यदि घट का प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव है तो अभाव धर्मी हुआ और घट प्रतियोगी। ये धर्मी और प्रतियोगी दोनों एक ही आधार पर निर्भर करते हैं। यह नियम है।]

उसके बाद—'धर्म के आगमन या विनाश से धर्मी में विकृति उत्पन्न होती है', इस नियम से आत्मा की कूटस्थता ही समाप्त हो जायगी। [कूट = मूलस्वरूप। उसमें अवस्थित रहना कूटस्थता है। आत्मा कूटस्थ है अर्थात् इसमें कभी विकृति नहीं होती। यदि वृत्तियाँ आत्मनिष्ठ हैं तो उनका विनाश (प्रध्वंसाभाव) भी आत्मनिष्ठ ही होगा। वृत्तियाँ आत्मा के धर्म हैं। यदि इनका विनाश होता है तो आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है क्योंकि धर्म के आगम या विनाश से धर्मी विकृत होता है। इसलिए वृत्तियों के विनाश के समय आत्मा में विकार होगा और उसकी कूटस्थता नहीं रह सकेगी।]

विशेष—'उपयन्नपयन्धर्मो' का न्याय बहुत प्रसिद्ध है तथा दो उल्लेख इसके मिलते हैं। एक तो सिद्धान्तबिन्दु (वेदान्त का ग्रंथ, रचयिता—मधुसूदन सरस्वती, १५६० ई०) की टीका न्यायरत्नावली (रचयिता—ब्रह्मानन्द सरस्वती, समय–१६५० ई०) में; दूसरे, सूतसंहिता के शिवमाहात्म्यखंड के आरंभ में विद्यारण्य की टीका में।

तदपि न घटते। निरोधप्रतियोगिभूतानां प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिस्वरूपाणां वृत्तीनामन्तःकरणाद्यपरपर्यायचित्तधर्मत्वाङ्गीकारात्। कूटस्थनित्या चिच्छक्तिरपरिणामिनी विज्ञानधर्माश्रयो भवितुं नार्हत्येव।

न च चितिशक्तेरपरिणामित्वमसिद्धमिति मन्तव्यम्।

'चितिशक्तिरपरिणामिनी सदा ज्ञातृत्वात्, न यदेवं न तदेवं यथा चित्तादि' इत्याद्यनुमानसंभवात् ।

उपर्युक्त शंका करना भी ठीक नहीं है। निरोध या विनाश के प्रतियोगी के रूप में वृत्तियाँ—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—स्वीकृत की गई हैं (अर्थात् इन वृत्तियों का ही निरोध होता है)। ये वृत्तियाँ अन्तःकरण आदि (=बुद्धि, चित्त, अन्तःकरण) के नाम से पुकारे जाने वाले चित्त के ही धर्म मानी गई हैं। [ज्ञान, चित्त का ही परिणाम है। बुद्धि की वृत्ति में विषयों का आकार आ जाना ज्ञान है और विषयों के आकार से उपरक्त बुद्धि की वृत्ति का प्रतिबिम्ब चित्-शक्ति पर पड़ता है। जैसे जल में प्रतिबिम्बित होने की सामर्थ्य, रूप से युक्त स्थूल द्रव्य में है उसी प्रकार पुरुष में प्रतिबिम्बित होने की सामर्थ्य, वृत्ति से युक्त चित्त में ही है। उस समय बुद्धि की वृत्तियों से भेद-ग्रहण न कर सकने के कारण उस प्रकार की बुद्धि की वृत्तियों से अभिन्न रूप में चितिशक्ति वस्तुओं का अनुभव करती है। फलतः ज्ञान वास्तव में बुद्धि का धर्म है, आत्मा का नहीं। आत्मा की कूटस्थता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।]

[नैयायिकादि जो ज्ञान को आत्मा के धर्म मानते हैं उनका उत्तर यह है—] चित्-शक्ति (चैतन्य या आत्मा) कूटस्थ (मूल रूप में स्थित), नित्य तथा परिणाम (परिवर्तन, विकृति) से रहित है, वह विज्ञान-धर्म का आश्रय नहीं ही हो सकती है। [ज्ञान का अर्थ है विषय के आकार के सदृश आकार में परिणत होना। आत्मा अपरिणामी है अतः ज्ञान का आश्रय वह नहीं हो सकती है।]

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि चितिशक्ति (आत्मा) का अपरिणामी होना असिद्ध है। [चितिशक्ति को अपरिणामी मानने के लिए] इस प्रकार के अनुमान की संभावना है—

(१) चितिशक्ति अपरिणामी है। (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि यह सदा ज्ञाता के रूप में रहती है। (हेतु)
(३) जो ऐसा (अपरिणामी) नहीं है वह वैसा (ज्ञाता) भी नहीं,
जैसे चित्त आदि। (व्यतिरेक दृष्टान्त)

विशेष—चित्-शक्ति का विषय है वृत्ति से युक्त चित्त। चित्त के विषय घटादि पदार्थ हैं। ये घटादि चित्-शक्ति के सीधे विषय नहीं, परंपरा से हो सकते हैं। चित्शक्ति → चित्त → घटादि। घटादि पदार्थों का ज्ञान तभी हो सकता है जब इन्द्रिय-संयोग, प्रकाश आदि साधन विद्यमान हों। यदि साधन

ही न रहें तो ये विद्यमान रहने पर भी अज्ञात पदार्थ ही रहेंगे। यह तो हुआ चित्त और घटादि का संबन्ध। चित् शक्ति और चित्त में ऐसा संबन्ध नहीं है। ऐसा नहीं होता कि चित्तवृत्ति विद्यमान होने पर भी अज्ञात रहे। वृत्ति में अज्ञात सत्ता हो नहीं सकती। नहीं तो विद्यमान रहने पर भी चित्तवृत्ति की अज्ञात अवस्था में निम्नलिखित संशय होते ही रहते—'मैं सुखी नहीं था मैं दुःखी नहीं' इत्यादि। इसलिए चित्तवृत्ति सदा ज्ञात रहती है और चित्-शक्ति जिस समय चित्त-वृत्ति का साक्षात्कार करती है उस समय अपरिणामी ही रहती है। यदि चित्त की तरह ही चित्-शक्ति में भी परिणाम मानेंगे तब तो चूँकि परिणाम कार्य है, इसलिए कभी होगा कभी नहीं, फलतः चित्तवृत्ति सदा ज्ञात नहीं हो सकेगी।

अब ज्ञान की प्रक्रिया पर भी विचार कर लें। विषयों का ज्ञान जब चित्त-वृत्ति के द्वारा होता है तब विषय अपने आकार का समर्पण चित्तवृत्ति में कर देते हैं। किन्तु जब चित्तवृत्ति का ज्ञान चित्-शक्ति के द्वारा होता है तब वृत्ति चित्-शक्ति में केवल प्रतिबिम्बित ही होती है। जब बुद्धि की वृत्ति विद्यमान रहेगी तब प्रतिबिम्बन क्रिया अनिवार्य है। अतएव आत्मा (चित्-शक्ति) ज्ञाता के रूप में सदा अवस्थित रहती है। निष्कर्ष यह है कि चित्तवृत्ति सदा ज्ञात होती रहती है और चित्-शक्ति सदा ज्ञाता बनी रहती है। अतः चित्-शक्ति अपरिणामी ही रहती है। आगे इसे मूल में ही स्पष्ट करेंगे।

उपर्युक्त अनुमान में दृष्टान्त व्यतिरेक-विधि का दिया गया है क्योंकि अन्वय-विधि में मिलना ही संभव नहीं था।

तथा यद्यसौ पुरुषः परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत। चिद्रूपस्य पुरुषस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेनावस्थितस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं सत्त्वं तस्यापि सदैव स्थितत्वात्। येन येनार्थेनोपरक्तं भवति तस्य दृश्यस्य सदैव चिच्छायापत्त्या भानोपपत्त्या पुरुषस्य निःसङ्गत्वं संभवति।

ऐसी स्थिति में यदि वह पुरुष (आत्मा) परिणामी होता तो चूँकि परिणाम कभी-कभी हुआ करता है, इसलिए चित्त की वृत्तियाँ भी सदा ज्ञात नहीं हो सकतीं। चित्–शक्ति के रूप में जो पुरुष है वह अधिष्ठाता के रूप में सदा ही अवस्थित रहता है। उसके अंतरंग में निर्मल सत्ता की भी स्थिति सदा रहती है। जिस-जिस अर्थ (वस्तु) के साथ [चित्त] उपरक्त होता है

उस दृश्य वस्तु की छाया चित्-शक्ति (आत्मा) पर पड़ती है तथा प्रतीति होती है—इस प्रकार पुरुष की निःसंगता संभव है।

ततश्च सिद्धं तस्य सदा ज्ञातृत्वमिति न कदाचित्परिणामित्वशङ्कावतरति। चित्तं पुनर्येन विषयेणोपरक्तं भवति स विषयो ज्ञातः, येनोपरक्तं न भवति तदज्ञातमिति वस्तुनोऽयस्कान्तमणिकल्पस्य ज्ञानाज्ञानकारणभूतोपरागानुपरागधर्मित्वादयःसधर्मकं चित्तं परिणामीत्युच्यते।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पुरुष (आत्मा) सदा ज्ञाता बना रहता है, इसलिए उसके परिणामी (परिवर्तनशील) होने की शंका कभी नहीं उठ सकती। अब चित्त की यह दशा है कि वह जिस विषय से उपरक्त (संबद्ध) होता है, वही विषय ज्ञात होता है। जिससे उसका उपराग नहीं वह अज्ञात ही रहता है। वस्तु अयस्कान्त मणि (चुम्बक Magnet) की तरह होती है तथा चित्त लोहे की तरह है। ज्ञान का कारण उपराग (संबंध) है तथा अज्ञान का कारण उपराग न होना है। ये (उपराग और अनुपराग) चित्त के धर्म हैं इसीलिए उसे (चित्त को) परिणामी कहते हैं। [चुम्बक क्रियाशील] नहीं है किन्तु वह आकृष्ट कर सकता है। विषय भी क्रियाहीन ही हैं किन्तु लोहे के समान क्रियाशील चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करके (इन्द्रियों के द्वारा) अपने आकार की तरह का आकार समर्पित करते हैं। आकार का समर्पण ही उपराग कहलाता है। उपराग होने पर विषयों का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं। उपराग धर्म है जो चित्त के परिणामी होने पर ही संभव है। अतः चित्त का परिणामी होना सिद्ध होता है।

विशेष—प्रस्तुत स्थल भारतीय मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए अत्यन्त ही उपादेय है। चित्त की वृत्तियों का विश्लेषण योग में ही हुआ है।

(८. चित्त और विषयों का संबन्ध)

ननु चित्तस्येन्द्रियाणां चाहंकारिकाणां सर्वगतत्वात् सर्वविषयैरस्ति सदा संबन्धः। तथा च सर्वेषां सर्वदा सर्वत्र ज्ञानं प्रसज्येतेति चेत्—न। सर्वगतत्वेऽपि चित्तं यत्र शरीरे वृत्तिमत्, तेन शरीरेण सह संबन्धो येषां विषयाणां, तेष्वेवास्य ज्ञानं भवति, नेतरेषु—इत्यतिप्रसङ्गाभावात्। अत एवायस्कान्तमणि-

कल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमिन्द्रियप्रणालिकयाऽभिसंबध्यो-परञ्जयन्तीत्युक्तम् ।

अब यहाँ पर शंका हो सकती है कि अहंकार से उत्पन्न होने वाली इन्द्रियाँ तथा चित्त सर्वव्यापक है अतः सभी विषयों के साथ इनका सदा संबन्ध होता है। इस प्रकार तो सभी समय, सभी जगह, सभी चीजों का ज्ञान होने लगेगा। [तात्पर्य यह है कि चित्त और इन्द्रियों को विभु माना जाता है। यदि चित्त को विभु न मानकर अणु मानेंगे तो एक बार में अनेक विषयों के साथ संबन्ध नहीं हो सकेगा तथा एकाग्रता माननी पड़ेगी। जब एकाग्रता पहले से ही सिद्ध है तब योगशास्त्र में एकाग्रता के उपदेश की विधि व्यर्थ ही हो जायगी। इसीलिए चित्त को विभु मानते हैं। दूसरे, यदि मन विभु नहीं होता तो सुगंधित जल पीने में या बड़े-बड़े पुए खाने में एक साथ ही जो दो इन्द्रियों के द्वारा अनुभूति होती है (सुगंध–नाक, जल–जीभ; बड़े-बड़े—आँख, पुए–जीभ) वह नहीं हो सकती। योगी लोग जो एक ही साथ अखिल पदार्थों का साक्षात्कार कर लेते हैं वह भी संभव नहीं हो पाता। योगियों का यह साक्षात्कार लौकिक प्रत्यक्ष ही है, अलौकिक नहीं। योग के द्वारा ज्ञान के प्रतिबन्धक कारण भर दूर कर दिये जाते हैं, नहीं तो यह साक्षात्कार सामान्य दृष्टि से ही होता है। इन्द्रियों को भी इसीलिए विभु कहा गया है। यदि ये विभु नहीं होतीं तो योगी लोग देशान्तर में स्थित पदार्थों का साक्षात्कार कैसे करते ? यह दूसरी बात है कि इन्द्रियाँ अपनी वृत्तियों का लाभ निर्दिष्ट स्थान पर ही करती हैं। स्थानों के आधार पर इन्द्रियों को अणु कह देते हैं पर यह कहना केवल औपाधिक (Conditional) है। इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं और अहंकार व्यापक है अतः इन्द्रियों को विभु मानने में कोई अड़चन भी नहीं है। फल यह होगा कि मन (चित्त) और इन्द्रियों के व्यापक होने के कारण सभी विषयों का संनिकर्ष सदा होता रहेगा। चाहे योगी हो या अयोगी, सदा ही ज्ञान होता रहेगा।]

[इस शंका का उत्तर है कि] ऐसी बात नहीं है। सर्वव्यापक होने पर भी चित्त जिस शरीर में वृत्ति से युक्त (= विषय के आकार में परिणत) होता है उस शरीर के साथ जिन विषयों का सम्बन्ध होता है उन्हीं (विषयों) के साथ ही उस शरीर का ज्ञान-सम्बन्ध होता है, दूसरों के साथ नहीं—इस प्रकार अतिप्रसक्ति नहीं हो सकती। इसीलिए (चित्त का परिणाम शरीर में ही होता है अन्यत्र नहीं, इसलिए) चुंबक की तरह विषय लौह-सदृश चित्त

को इन्द्रियरूपी प्रणाली (माध्यम) से संबद्ध करके उपरक्त करते हैं, ऐसा कहा गया है। (देखिये—व्यासभाष्य ४।१७)।

तस्माच्चित्तस्य धर्मा वृत्तयो नात्मनः। तथा च श्रुतिः—'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति। चिच्छक्तेरपरिणामित्वं पञ्चशिखाचार्यैराख्यायि—अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरिति। पञ्जलिनापि—'सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्' (पात० यो० सू० ४।१८) इति। चित्तपरिणामित्वेऽनुमानमुच्यते—चित्तं परिणामि ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् श्रोत्रादिवदिति।

इसलिए वृत्तियाँ चित्त के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इसके लिए श्रुति भी प्रमाण है—'काम (इच्छा), संकल्प ('यह नील है' इस प्रकार का ज्ञान), सन्देह (विचिकित्सा), श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि), अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि (या ज्ञान) और भय, ये सभी मन (Mind) ही हैं।' (बृहदारण्यकोपनिषद्, १।५।३)। पंचशिख आचार्य ने चित्-शक्ति (आत्मा) का अपरिणामी होना बतलाया भी है—'भोक्तृशक्ति (अर्थात् आत्मा) अपरिणामी है' (यो० सू० २।२० के भाष्य में व्यास द्वारा उद्धृत)। पतंजलि ने भी कहा है—'[चित्-शक्ति के विषय के रूप में] चित्तवृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं, [चित्त के विषयभूत घटादि पदार्थों की तरह ज्ञात और अज्ञात दोनों ही नहीं रहतीं], कारण यह है कि उनका भोक्ता पुरुष परिणामी नहीं है' (यो० सू० ४।१८)। चित्त को परिणामी मानने के लिए तो अनुमान दिया जाता है—

(१) चित्त परिणामी है। (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि इसके विषय—घटादि—ज्ञात भी हैं, अज्ञात भी। (हेतु)
(३) जिस प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ हैं। (दृष्टान्त)

(८ क. परिणाम के तीन भेद)

परिणामश्च त्रिविधः प्रसिद्धो धर्मलक्षणावस्थाभेदात्। धर्मिणश्चित्तस्य नीलाद्यालोचनं धर्मपरिणामः। यथा कनकस्य

कटकमुकुटकेयूरादि । धर्मस्य वर्तमानत्वादिर्लक्षणपरिणामः । नीलाद्यालोचनस्य स्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः । कटकादेस्तु नवपुराणत्वादिरवस्थापरिणामः । एवमन्यत्रापि यथासंभवं परिणामत्रितयमूहनीयम् । तथा च प्रमाणादिवृत्तीनां चित्तधर्मत्वात्तन्निरोधोऽपि तदाश्रय एवेति न किंचिदनुपपन्नम् ।

परिणाम तीन प्रकार का प्रसिद्ध है—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम। जब धर्मी अर्थात् चित्त नीलादि का साक्षात्कार (नील के आकार में चित्तवृत्ति का परिणाम) करता है तब उसे **धर्मपरिणाम** कहते हैं जैसे कनक के [धर्मपरिणाम कटक (कंगन), कुण्डल, केयूर आदि हैं। [अवस्थितधर्मी में एक धर्म का तिरोभाव होने पर दूसरे धर्म का आगमन होना धर्म-परिणाम है। चित्त के धर्म इसकी अनेक वृत्तियाँ हैं जो विषयों के आकार में रहती हैं। नील का साक्षात्कार करने पर जो नीलाकार वृत्ति रहती है उसका तिरोधान होने पर दूसरे विषयों का साक्षात्कार करने पर उस दूसरे आकार की वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। कनक में कंगन के धर्म का तिरोभाव हो जाने पर मुकुट के धर्म का आगमन होता है। मिट्टी में पिंड का धर्म लुप्त होने पर घट-धर्म आता है आदि-आदि। योगशास्त्र भी सांख्य की तरह सत्कार्यवाद को मान्यता देता है इसलिए इन धर्मों का विनाश या उत्पत्ति नहीं मान सकते। सभी धर्म सदा वर्तमान रहते हैं। यही कारण है कि धर्मों का तिरोभाव और आविर्भाव कहते हैं—विनाश और उत्पत्ति नहीं।]

धर्म का वर्तमान होना आदि **लक्षणपरिणाम** है। [जैसे धर्मी स्वरूप से सदा विद्यमान रहने पर भी विभिन्न धर्मों से युक्त होता है उसी प्रकार प्रत्येक धर्म सदा विद्यमान रहने पर भी भविष्यत्, वर्तमान और भूत के रूप में विभिन्न लक्षणों से युक्त होता है। यही धर्म का लक्षणपरिणाम है। एक लक्षण छोड़कर धर्म दूसरे लक्षण से युक्त हो जाता है। धर्म के समान ही ये लक्षण भी तिरोभूत या आविर्भूत होते हैं अतः सत्कार्यवाद की रक्षा हो जाती है।]

नीलादि का साक्षात्कार करने में स्फुट होना आदि **अवस्थापरिणाम** है, कंगन आदि में नया, पुराना आदि होना ही अवस्थापरिणाम है। [नील का साक्षात्कार वर्तमान के लक्षणपरिणाम में होने पर भी अवस्था के भेद से तारतम्य रख सकता है। कोई साक्षात्कार स्फुट हो सकता है कोई स्फुटतर,

कोई अस्फुट तो कोई अस्फुटतर। उसी प्रकार कनक के धर्म—कटक में भी तारतम्य हो सकता है—कोई नवीन, तो कोई प्राचीन आदि। यह अवस्था-परिणाम क्षण-क्षण में होता है। अवस्थित लक्षण ही जब एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तभी यह परिणाम होता है।]

इस प्रकार दूसरे स्थानों में भी यथासंभव तीनों परिणामों का अन्वेषण कर लेना चाहिए। इसी तरह प्रमाण आदि वृत्तियाँ (यो० सू० १।६) चूँकि चित्त के धर्म हैं इसलिए इन वृत्तियों का निरोध भी चित्त पर ही आश्रित हैं—अतएव यहाँ पर कोई बात असमंजस में डालने वाली नहीं है।

(९. योग का अर्थ वृत्तिनिरोध लेने पर आपत्ति)

ननु वृत्तिनिरोधो योग इत्यङ्गीकारे सुषुप्त्यादौ क्षिप्तमूढादिचित्तवृत्तीनां निरोधसंभवाद् योगत्वप्रसङ्गः। न चैतद्युज्यते। क्षिप्ताद्यवस्थासु क्लेशप्रहाणादेरसंभवान्निःश्रेयसपरिपन्थित्वाच्च। तथा हि—क्षिप्तं नाम तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमस्थिरं चित्तमुच्यते। तमःसमुद्रे मग्नं निद्रावृत्तिभाजितं मूढमिति गीयते। क्षिप्ताद्विशिष्टं चित्तं विक्षिप्तमिति गीयते।

अब यहाँ पर एक शंका है कि जब आप योग का अर्थ वृत्ति का निरोध होना स्वीकार करेंगे तो सुषुप्ति आदि दशाओं में क्षिप्त, मूढ तथा दूसरी चित्त-वृत्तियों का निरोध तो होता ही है, अतः उन दशाओं को भी योग ही मान लेना पड़ेगा [जिससे योग के उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष उत्पन्न हो जायगा। चित्त की पाँच अवस्थायें हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध। सुषुप्ति (Sound Sleep) की दशा में क्षिप्त और विक्षिप्त वृत्तियाँ नहीं रहतीं। उसी तरह जागृति की दशा में मूढ वृत्ति नहीं रहती है। बद्ध जीव में एकाग्र तथा निरुद्ध वृत्तियों का अभाव या निरोध सदैव बना रहता है। तो क्या वृत्तियों के निरोध के कारण इन दशाओं को भी हम योग ही कह देंगे? वृत्तिनिरोध का अर्थ आप कुछ वृत्तियों का ही निरोध लेते हैं, सभी वृत्तियों का नहीं। यदि ऐसा नहीं हो तो योग के रूप में मानी गयी संप्रज्ञात समाधि में अव्याप्ति होगी क्योंकि उसमें आत्मविषयक सात्त्विक वृत्ति का निरोध तो नहीं हो होता है।]

पुनः, उक्त दशाओं को योग मानना युक्तियुक्त भी नहीं है। क्षिप्त आदि अवस्थाओं में क्लेश की आत्यन्तिक निवृत्ति (प्रहाण) असंभव तो है ही,

साथ-साथ वे दशायें मोक्ष का विरोध भी करने वाली हैं। वह इस प्रकार है—क्षिप्त वह चित्त है जो विभिन्न विषयों में प्रवृत्त होने पर अस्थिर (चंचल) है। [रजोगुण के आधिक्य के कारण यह चित्त बहिर्मुख होकर विषयों में प्रेरित होता है। दैत्यों और दानवों में ऐसा चित्त सदा ही साथ रहता है।] तमोगुण के समुद्र में डूबा हुआ तथा निद्रावृत्ति से युक्त चित्त को **मूढ़** कहते हैं। [ऐसे चित्त में कृत्य और अकृत्य का विचार नहीं रहता तथा यह क्रोधादि दुर्गुणों से भरा रहता है। राक्षसों और पिशाचों में प्रायः सदैव ऐसा चित्त रहता है।]

जो चित्त क्षिप्त से विशिष्ट हो उसे **विक्षिप्त** कहते हैं। [इस चित्त में सत्त्वगुण का उद्रेक होता है तथा यह दुःख के साधनों को त्याग कर सुख के साधक विषयों—जैसे शब्द आदि में प्रवृत्त होता है। देवताओं में ऐसा चित्त सदा ही रहा करता है। यह चित्त किसी विशेष विषय के अनुसार कभी-कभी कुछ समय के लिए स्थिर भी हो जाता है। यों यह भी चंचल ही है। इसी विशेष का वर्णन अब गीता के प्रमाण से करेंगे तथा इसकी स्वाभाविक चंचलता का उल्लेख योगसूत्र के आधार पर ही करने जा रहे हैं।]

विशेषो नाम—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् (गी० ६।३४) इति न्यायेनास्थिरस्यापि मनसः कदाचित्कसमुद्भूतविषयस्थैर्यसंभवेन स्थैर्यम्। अस्थिरत्वं च स्वाभाविकं व्याध्याद्यनुशयजनितं वा। तदाह—'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।' (पात० यो० सू० १।३०) इति।

[ऊपर कहा गया है कि क्षिप्त से विक्षिप्त में विशेषता होती है।] अब उस विशेषता का अर्थ है स्थिरता। 'हे कृष्ण! मन बड़ा चंचल है, यह प्रमाथी (शरीर और इन्द्रियों में क्षोभ उत्पन्न करनेवाला) है, बलवान् (जिसका निवारण अभिप्रेत विषय से किसी तरह भी न हो सके) तथा दृढ (विषय-वासना रूपी दुर्ग में रहने के कारण अभेद्य) भी है।' (गी० ६।३४) इस नियम से, विषयों को कभी-कभी स्थिर करना संभव होने के कारण, मन को, अस्थिर होने पर भी, स्थिर किया जा सकता है। (विक्षिप्त में यही विशेषता है)। मन की अस्थिरता या तो स्वाभाविक है या व्याधि-आदि अनुशयों (अनुबन्धों, पूर्वकृत कर्मों के फलों) से उत्पन्न होती है। इसे कहा है—'व्याधि

(Sickness), स्त्यान (Languor), संशय (Doubt), प्रमाद (Carelessness), आलस्य (Laziness), अविरति (Addiction to objects), भ्रान्तिदर्शन (Erroneous perception), अलब्धभूमिकत्व (Failure to attain some stage) और अनवस्थितत्व (Instability), ये चित्त के विक्षेप (अस्थिर बनाने वाले) हैं अतः ये योग के अन्तराय (बाधक) हैं।' (यो० सू० १।३०)। [इन अन्तरायों का वर्णन अलग-अलग भी कर रहे हैं। उसके साथ ही पूर्वपक्ष का उपसंहार किया जायगा।]

तत्र दोषत्रयवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिर्व्याधिः। चित्तस्याकर्मण्यत्वं स्त्यानम्। विरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः। समाधिसाधनानामभावनं प्रमादः। शरीरवाक्चित्तगुरुत्वादप्रवृत्तिरालस्यम्। विषयाभिलाषोऽविरतिः। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिदर्शनम्। कुतश्चिन्निमित्तात्समाधिभूमेरलाभोऽलब्धभूमिकत्वम्। लब्धायामपि तस्यां चित्तस्याप्रतिष्ठाऽनवस्थितत्वमित्यर्थः।

तस्मान्न वृत्तिनिरोधो योगपक्षनिक्षेपमर्हतीति चेत्—।

उनमें तीन दोषों (वात, पित्त, कफ) की विषमता से उत्पन्न ज्वरादि को **व्याधि** कहते हैं। चित्त का अकर्मण्य (योगानुष्ठान के असमर्थ) होना **स्त्यान** है। दो विरोधी विकल्पों के साथ सम्बद्ध ज्ञान **संशय** है। समाधि के साधनों की भावना (प्राप्ति के लिए यत्न) न करना **प्रमाद** है। शरीर, वाणी या मन के भारी होने से किसी काम में प्रवृत्ति न होना **आलस्य** है। [कफ आदि की वृद्धि से शरीर भारी हो जाता है। तामस पदार्थों के सेवन से वाणी भी भारी हो जाती है तथा तमोगुण के उद्रेक से चित्त भारी हो जाता है।] विषयों की अभिलाषा रखना **अविरति** है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ज्ञान कर लेना **भ्रान्तिदर्शन** है। किसी भी कारण से समाधिभूमि (मधुमती आदि किसी भूमि) को न पा सकना **अलब्धभूमिकत्व** कहलाता है। [मधुमती आदि भूमियों का वर्णन इसी दर्शन में आगे करेंगे।] समाधि-भूमि को पा लेने पर भी उसमें चित्त का प्रतिष्ठित न होना **अनवस्थितत्व** है। यही सूत्र का अर्थ है।

इसलिए (क्षिप्तादि अवस्थाओं में वृत्ति का निरोध होने पर भी योग के फल के रूप में प्राप्त क्लेशहानि से निःश्रेयस-प्राप्ति न हो सकने के कारण) वृत्तिनिरोध को हम योग का लक्षण नहीं मान सकते।

(९ क. समाधान)

मैवं वोचः। हेयभूतक्षिप्ताद्यवस्थात्रये वृत्तिनिरोधस्य योगत्वासंभवेऽप्युपादेययोरेकाग्रनिरुद्धावस्थयोर्वृत्तिनिरोधस्य योगत्वसंभवात्। एकतानं चित्तमेकाग्रमुच्यते। निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषं चित्तं निरुद्धमिति भण्यते।

ऐसा मत कहो। क्षिप्त आदि तीन अवस्थायें त्याज्य हैं अतः उनके विचार से [उनमें अतिव्याप्ति होने के भय से] वृत्तियों के विरोध को योग भले ही न मानें किन्तु जहाँ तक एकाग्र और निरुद्ध इन दोनों उपादेय अवस्थाओं का सम्बन्ध है, वृत्ति-निरोध को योग मानना ही पड़ेगा। [वास्तव में क्षिप्तादि अवस्थाओं में भी एकाध वृत्ति का निरोध हो जाने से हमें उन अवस्थाओं में योग के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं समझनी चाहिए। योग के लक्षण में जो चित्त-वृत्ति-निरोध आया है उसका अर्थ है—द्रष्टा को अपने स्वरूप में आत्यन्तिक रूप से अवस्थित करा देनेवाला चित्तवृत्तिनिरोध या क्लेश, कर्मादि का विनाशक चित्तवृत्तिनिरोध। ऐसी बात नहीं कि एक वृत्ति का निरोध हो जाने से योग हो गया और इस लक्षण पर दूसरी अवस्थाओं को भी हम योग कह दें। क्षिप्त, मूढ़ या विक्षिप्त अवस्था में किसी वृत्ति का निरोध हो जाता है सही, परन्तु न तो उस निरोध से द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित ही हो सकता है और न ही वह निरोध क्लेश आदि का विरोधी है।]

[सत्त्वगुण से भर जाने पर] जब चित्त किसी एक वस्तु में स्थिर हो जाता है तब उसे एकाग्र अवस्था कहते हैं। जब चित्त की सारी वृत्तियाँ रुक जायँ, केवल संस्कार भर ही शेष रहे तो उसे निरुद्ध चित्त कहते हैं। [ये दोनों अवस्थायें योग के लिए उपादेय हैं अतः इनके विचार से योग चित्तवृत्ति का निरोध तो है ही।]

(१०. समाधि का निरूपण—इसके भेद)

स च समाधिर्द्विविधः—संप्रज्ञातासंप्रज्ञातभेदात्। तत्रैकाग्रचेतसि यः प्रमाणादिवृत्तीनां बाह्यविषयाणां निरोधः स संप्रज्ञातसमाधिः। सम्यक् प्रज्ञायतेऽस्मिन् प्रकृतेर्विविक्ततया ध्येयमिति व्युत्पत्तेः। स चतुर्विधः। सवितर्कादिभेदात्। समाधिर्नाम भावना। सा च भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्।

[योग के पर्याय के रूप में प्रसिद्ध] यह समाधि दो प्रकार की है—संप्रज्ञात (जिसमें ज्ञान स्पष्ट हो) और असंप्रज्ञात (जिसमें स्पष्ट ज्ञान भी न रहे)। जब एकाग्र अवस्था में आये हुए चित्त में बाह्य विषय अर्थात् प्रमाण आदि वृत्तियों का निरोध हो जाय तब उसे **संप्रज्ञात समाधि** कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति (निर्वचन) है कि जिसमें ध्येय वस्तु प्रकृति से पृथक् रूप में अच्छी तरह प्रज्ञात हो। इसके चार भेद हैं—सवितर्क आदि (= सविचार, सानन्द तथा सास्मित)। समाधि एक तरह की भावना है और इसका अभिप्राय है—भाव्य वस्तु (जिस वस्तु का चिन्तन हो रहा वह वस्तु) को दूसरे विषयों से बचाकर चित्त में बार-बार बैठाना। [स्मरणीय है कि सभी विषयों का निरोध हो जाने पर भी संप्रज्ञात समाधि में आत्मविषयक सात्त्विक प्रमाणवृत्ति रहती ही है।]

भाव्यं च द्विविधम्—ईश्वरस्तत्त्वानि च। तान्यपि द्विविधानि जडाजडभेदात्। जडानि प्रकृतिमहदहंकारादीनि चतुर्विंशतिः। अजडः पुरुषः। तत्र तदा पृथिव्यादीनि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसंधानेन शब्दार्थोल्लेखसंभेदेन च भावना प्रवर्तते स समाधिः सवितर्कः। यदा तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मं विषयमालम्ब्य देशाद्यवच्छेदेन भावना प्रवर्तते तदा सविचारः।

भाव्य वस्तु के भी दो भेद हैं—ईश्वर और तत्त्वसमूह। तत्त्वसमूह दो प्रकार के हैं—जड़ और अजड़। प्रकृति, महत्, अहंकार आदि चौबीस जड़ पदार्थ हैं। पुरुष (जीवात्मा) अजड़ है।

(१) **सवितर्क समाधि** वह है जब इन भाव्य वस्तुओं में से पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों को विषय के रूप में लेकर, पूर्व और अपर के क्रम का अनुसंधान करते हुए तथा शब्द और उनके अर्थ के उल्लेख की एकता दिखाते हुए कोई भावना प्रवृत्त होती है। [वितर्क = स्थूल वस्तुओं का साक्षात्कार। इस साक्षात्कार की उत्पत्ति उस भावना से होती है जिसमें 'पहले सामान्य तब विशेष' या 'पहले धर्मी तब धर्म' इस प्रकार पूर्वापर का क्रम खोजा जाता है। शरीर और इन्द्रियों में जो गुण दोष पहले से सुने गये हैं उन्हीं में यह क्रम खोजते हैं। यदि कोई विशेष पहले से सुने नहीं गये हों, तब भी कोई बात नहीं—योग-बल से भावना के बिना भी साक्षात्कार हो जायगा। योगसूत्र में कहा गया है—तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का (१।४२) अर्थात्

शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेदों से मिली हुई (तीनों भिन्न पदार्थों की जिसमें अभेद-प्रतीति हो) सवितर्क समापत्ति होती है। सवितर्क में शब्द, अर्थ और ज्ञान का भेद बना ही रहता है कि यह गौ शब्द है, उसका यह अर्थ है तथा उन दोनों को प्रकाशित करने वाला एक ज्ञान है। इसमें स्थूल पदार्थों का ही ग्रहण होता है।]

(२) **सविचार** वह समाधि है जब तन्मात्र (रूप, रस आदि) तथा अन्तःकरण, इन सूक्ष्म पदार्थों को विषय बनाकर देश, काल आदि (=निमित्त) के विचार से मिलकर भावना उत्पन्न हुई हो। [देश, काल और कार्य-कारण का अनुभव रखते हुए सूक्ष्म तन्मात्रों में शब्दादि भेदों से मिश्रित समापत्ति सविचार है। कार्य-कारण का अनुभव इस रूप में होता है—सूक्ष्म पृथिवी का कारण है गन्धतन्मात्र-प्रधान पाँच तन्मात्र, इत्यादि।]

विशेष—स्थूल पदार्थ विषयक साक्षात्कार के सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद हैं जबकि सविचार और निर्विचार सूक्ष्म-पदार्थविषयक साक्षात्कार के भेद हैं। विशेष विवरण के लिए देखें—योगसूत्र (१।४२-४४)।

यदा रजस्तमोलेशानुविद्धं चित्तं भाव्यते तदा सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्योद्रेकात्सानन्दः। यदा रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तदा तस्यां सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकाच्च सत्तामात्रावशेषत्वेन सास्मितः समाधिः। तदुक्तं पतञ्जलिना—वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः (पात० यो० सू० १।१७) इति।

(३) जब रजोगुण और तमोगुण के लेशमात्र अंश से युक्त चित्त की भावना की जाती है तब सुख और प्रकाश से निर्मित सत्त्व का उद्रेक होता है—यही **सानन्द समाधि** है। [इस अवस्था में सत्त्व प्रबल रहता है और चिति-शक्ति दबी हुई रहती है। जिस प्रकार काल्पनिक राज्य में विचरण करते हुए (Day dream या दिवास्वप्न देखते हुए) मनुष्य को आनन्द आता है वही आनन्द इस समाधि में भी है। दुःख और मोह लेशमात्र रहते हैं, सुख (सत्त्व) प्रचुर मात्रा में रहता है।]

(४) जब रजोगुण और तमोगुण का लेश भी न रहे, वैसे शुद्ध सत्त्वगुण पर आधारित होकर भावना उत्पन्न हो तब उस सत्त्व के भी दब जाने से तथा चिति-शक्ति के उद्रेक से केवल सत्ता का ही बचा रह जाना **सास्मित समाधि**

है। [इस समाधि में ईश्वरस्वरूप तथा जीवस्वरूप दोनों को जड़ से पृथक् करके देखते हैं। 'अहमस्मि' केवल यही आकार बचा रहता है। पहले जीवात्मा के विषय की अस्मिता होती है। उसके बाद उससे भी सूक्ष्म अस्मिता परमात्मा के विषय में होती है। यही चित्त की अंतिम भूमि है। इसके बाद कोई ज्ञेय विषय रहता ही नहीं।]

पतंजलि ने इसे कहा है—'वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता नामक स्वरूपों के संबंध से [जो चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है वह] संप्रज्ञात समाधि होती है' (यो० सू० १।१७)।

विशेष—माधवाचार्य ने योगसूत्र १।१७ की भोजवृत्ति से उपर्युक्त पंक्तियाँ ली हैं। चित्त की उपर्युक्त चार भूमियों (Stages) को क्रमशः मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका तथा संस्कारशेषा कहते हैं। अब असंप्रज्ञात समाधि का निरूपण करते हैं।

सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः। ननु सर्ववृत्तिनिरोधो योग इत्युक्ते संप्रज्ञाते व्याप्तिर्न स्यात्। तत्र सत्त्वप्रधानायाः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिलक्षणाया वृत्तेरनिरोधादिति चेत्—तदेतद्वार्तम्। क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योग इत्यङ्गीकारात्।

किंतु जब सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब समाधि **असंप्रज्ञात** कहलाती है। यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि जब आप 'सभी वृत्तियों का निरोध होना योग है' ऐसा कहते हैं तब तो संप्रज्ञात समाधि (जिसमें कुछ ही वृत्तियों का निरोध होता है, अहंकार रह ही जाता है) इस लक्षण के अन्दर नहीं आ सकेगी। उस (संप्रज्ञात समाधि) में सत्त्व और पुरुष की पृथक् प्रतीति का निर्देश करने वाली सत्त्वप्रधान [प्रमाण] वृत्ति का तो निरोध नहीं ही हो पाता। किन्तु यह प्रश्न बिल्कुल निस्सार है क्योंकि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के विरोधी के रूप में चित्त-वृत्ति-निरोध को हम योग मानते हैं। [निरोध का अर्थ सभी वृत्तियों का निरोध ही नहीं है प्रत्युत जिससे क्लेशादि का विनाश हो। संप्रज्ञात समाधि में भी क्लेशादि का निरोध होता है अतः वहाँ भी चित्तवृत्ति-निरोध तो हुआ ही।]

(११. पाँच प्रकार के क्लेश—अविद्या पर आपत्ति)

क्लेशाः पुनः पञ्चधा प्रसिद्धाः—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः (पात० यो० सू० २।३) इति।

नन्वविद्येत्यत्र किमाश्रीयते ? पूर्वपदार्थप्राधान्यममक्षिकं वर्तत इतिवत् । उत्तरपदार्थप्राधान्यं वा राजपुरुष इतिवत् । अन्यपदार्थप्राधान्यं वा अमक्षिको देश इतिवत् ।

क्लेश पाँच प्रकार के प्रसिद्ध हैं—'अविद्या (एक वस्तु को दूसरे रूप में समझना), अस्मिता (चित्त और पुरुष को एक समझना), राग (विषयों की अभिलाषा), द्वेष (क्रोध) तथा अभिनिवेश (देह आदि से कभी वियोग न हो, इस प्रकार की मनोभावना)—ये क्लेश हैं' (यो० सू० २।३)।

. अब प्रश्न है कि 'अविद्या' शब्द में किस समास का अवलम्बन लेते हैं ? 'अमक्षिकं वर्तते' (मक्खियों का अभाव हो गया) इस समास की तरह क्या पूर्वपदार्थ की प्रधानता (अव्ययीभाव समास) मानते हैं ? ['अव्ययं विभक्ति०' (पा० सू० २।१।६) से अभाव के अर्थ में 'मक्षिकाणामभावः' करने से 'अमक्षिकम्' बनता है। उसी तरह 'विद्यायाः अभावः = अविद्या' बनता होगा। अव्ययीभाव समास में पूर्वपदार्थ की प्रधानता होती है।] अथवा 'राजपुरुषः' की तरह उत्तर पदार्थ की प्रधानता (तत्पुरुष समास) मानते हैं ? [नञ् तत्पुरुष समास में इसका अर्थ होगा—किसी वस्तु के अभाव से विशिष्ट विद्या। राजपुरुषः = राजा के संबन्ध से युक्त पुरुष। उत्तरपदार्थ अर्थात् पुरुष प्रधान है।] अथवा 'अमक्षिको देशः' (वह देश जहाँ मक्खियाँ नहीं हैं) की तरह अन्य पदार्थ की प्रधानता (बहुव्रीहि समास) मानते हैं ? [न मक्षिका यस्मिन्= अमक्षिको देशः। यहाँ अन्य पदार्थ अर्थात् देश की प्रधानता है। उसी तरह 'अविद्यमाना विद्या यस्याः सा अविद्या बुद्धिः' यह अर्थ हो जायगा।]

तत्र न पूर्वः । पूर्वपदार्थप्रधानत्वेऽविद्यायां प्रसज्यप्रतिषेधोपपत्तौ क्लेशादिकारकत्वानुपपत्तेः । अविद्याशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाभावापत्तेश्च । न द्वितीयः । कस्यचिदभावेन विशिष्टाया विद्यायाः क्लेशादिपरिपन्थित्वेन तद्बीजत्वानुपपत्तेः ।

पहला विकल्प [कि यह अव्ययीभाव समास है] नहीं माना जा सकता। 'अविद्या' शब्द में पूर्वपदार्थ की प्रधानता मानने पर प्रसज्य-प्रतिषेध की सिद्धि होगी। [प्राप्ति के साथ प्रतिषेध होना प्रसज्यप्रतिषेध है। जैसे—'अब्राह्मणः' कहने से ब्राह्मण के अभाव की प्राप्ति होती है। 'अविद्या' में विद्या की प्रसक्ति होकर उसका अभाव प्रतीत होगा। विद्या के सदृश किसी भावात्मक (Positive) पदार्थ की प्राप्ति होनी चाहिए। किन्तु ऐसी बात यहाँ नहीं। केवल

अभाव ही तो प्रतीत होता है ! विद्या का अभाव] क्लेश आदि को उत्पन्न नहीं कर सकता [किन्तु अविद्या क्लेशादि उत्पन्न करती है ।] दूसरे, अव्ययीभाव समास में 'अविद्या' शब्द स्त्रीलिंग नहीं रह सकता । ['अव्ययीभावश्च' (पा० सू० २।४।१८) सूत्र के अनुसार अव्ययीभाव समास केवल क्लीवलिंग ही होते हैं ।]

[तत्पुरुष समास—नञ् माननेवाला] दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं ही है । यदि किसी के अभाव से विशिष्ट (Characterised) विद्या को अविद्या कहते हैं (= यदि राग, द्वेष, शोक, मोह आदि में से किसी एक के अभाव से युक्त ज्ञान ही अविद्या है) तो ऐसी अविद्या क्लेशादि का विनाश ही करेगी, उनका बीज (उत्पादक) नहीं हो सकती । [इस समास में अविद्या = विद्या । और विद्या क्लेशादि को नष्ट ही करेगी, उत्पन्न नहीं ।]

न तृतीयः । नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्चेति वृत्तिकारवचनानुसारेणाविद्यमाना विद्या यस्याः सा अविद्या बुद्धिरिति समासार्थसिद्धौ तस्या अविद्यायाः क्लेशादिबीजत्वानुपपत्तेः । विवेकख्यातिपूर्वकसर्ववृत्तिनिरोधसंपन्नायास्तस्याः तथात्वप्रसङ्गाच्च ।

[अविद्या में बहुव्रीहि समास की भावना करने वाला] तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है । वार्तिक के रचयिता (कात्यायन) का कहना है कि नञ् (अ, अन्) के बाद 'होना' (अस्ति, विद्यमान, वर्तमान) के वाचक शब्दों का किसी दूसरे पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और [पूर्व पद में प्रयुक्त शब्दों में से] उत्तर पद का वैकल्पिक लोप भी होता है । [जैसे—'अधनः' में 'अविद्यमानं धनं यस्य सः' विग्रह करते हैं, अ + विद्यमान (लोपप्राप्त) । विद्यमान और धन का समास हुआ है ।] तदनुसार, अविद्यमान है विद्या जिसकी वह अविद्या बुद्धि है । जब इस रूप में समास के अर्थ की सिद्धि करेंगे तो वह अविद्या [केवल विद्यारहित बुद्धि होने के कारण, कोई भावात्मक पदार्थ न होने के कारण] क्लेश आदि का कारण नहीं बन सकती ।

[यदि कोई पूछे कि विद्याभाव को क्लेश का हेतु मान लें तो क्या दोष है ? तो उसका उत्तर यह है—] वह बुद्धि ही क्लेश आदि का कारण बन जायगी जो विवेक-ज्ञान (प्रकृति और पुरुष के भेद का दर्शन) कर लेने के बाद बुद्धि की सभी वृत्तियों के निरोध से संपन्न हुई है ।

उक्तं चास्मितादीनां क्लेशानामविद्यानिदानत्वम्—'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' (पात० यो० सू० २।४) इति। तत्र प्रसुप्तत्वं प्रबोधसहकार्यभावेनानभिव्यक्तिः। तनुत्वं प्रतिपक्षभावनया शिथिलीकरणम्। विच्छिन्नत्वं बलवता क्लेशेनाभिभवः। उदारत्वं सहकारिसंनिधिवशात्कार्यकारित्वम्।

सूत्रकार ने अस्मिता आदि दूसरे क्लेशों को अविद्यामूलक ही माना है—'बाद के प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार क्लेशों का क्षेत्र (आधार) अविद्या ही है' (यो० सू० २।४)। [पाँच क्लेशों में अविद्या को छोड़कर शेष अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये चार बचते हैं। इन चारों में भी प्रत्येक के प्रसुप्तादि चार-चार भेद हैं। इन सभी भेदों और अवान्तर भेदों की उत्पत्ति अविद्या से ही होती है। मणिप्रभा के अनुसार विदेह प्रकृति में लीन योगियों के क्लेश प्रसुप्त रहते हैं—विवेकज्ञान न हो सकने के कारण क्लेश दग्ध नहीं हुए हैं और वे शक्ति (Energy) के रूप में अवस्थित हैं जिससे अन्त में फिर उठ सकते हैं। क्रियायोगियों के क्लेश तनु होते हैं। विषय का सेवन करनेवाले पुरुषों के क्लेश विच्छिन्न और उदार भी होते हैं। राम को जिस वस्तु में राग (विषयाभिलाषा) है उसमें द्वेष विच्छिन्न हो जाता है, राग उदार रहता है। जहाँ क्रोध उदार रहता है, वहाँ राग विच्छिन्न हो जाता है।]

उनमें **प्रसुप्त** क्लेश उसे कहते हैं जो प्रबोध (जागृत) करने वाले सहकारी के अभाव में अभिव्यक्त नहीं हुआ है। [ये क्लेश चित्तभूमि में हैं पर जगानेवाला न होने से अपना कार्य नहीं करते हैं। इस प्रकार के क्लेश बालकों तथा प्रकृतिलय योगियों में होते हैं।] तनु क्लेश वह है जो विरुद्ध (क्लेशनाशक] वस्तु की भावना (ध्यान) से शिथिल कर दिया गया हो [जैसे उन योगियों का क्लेश, जिनमें थोड़ी वासना बची हुई हो]। क्लेश तब विच्छिन्न होता है जब किसी दूसरे अधिक बलवान् क्लेश के ही द्वारा परास्त कर दिया गया हो [जैसे द्वेष की अवस्था में राग विच्छिन्न हो जाता है और राग की अवस्था में द्वेष। ये दोनों चूँकि एक दूसरे के विरोधी हैं इसलिए एक ही साथ नहीं रह सकते।] उदार क्लेश वह है जिसमें सहकारी के सामीप्य के कारण कार्य उत्पन्न करने की शक्ति हो जाय [जैसे बद्ध जीवों में राग या द्वेष या किसी क्लेश का अधिक होना।]

तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रेण व्यासभाष्यव्याख्यायाम्—

६. प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम् ।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम् ॥
(तत्त्ववै० २।४) इति ।

द्वन्द्ववत्स्वतन्त्रपदार्थद्वयानवगमादुभयपदार्थप्रधानत्वं नाशङ्कितम् । तस्मात्पक्षत्रयेऽपि क्लेशादिनिदानत्वमविद्यायाः प्रसिद्धं हीयेतेति चेत्— ।

इसे वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य की [तत्त्ववैशारदी] व्याख्या में कहा है—'तत्त्व में जो लीन हैं उनके क्लेश प्रसुप्त रहते हैं, योगियों के क्लेश तनु-अवस्था में रहते हैं तथा विषयसेवी पुरुषों के क्लेश विच्छिन्न और उदार रूप में रहते हैं।' (त० वै० २।४)।

द्वन्द्व समास की तरह [अविद्या-शब्द में] दो स्वतंत्र पदार्थ न रहने के कारण उभय पदार्थ की प्रधानता (द्वन्द्व समास होने) की भी शंका नहीं करनी चाहिए। इसलिए तीनों प्रकार से विग्रह करने पर अविद्या का वह प्रसिद्ध गुण जो क्लेश आदि का उत्पादन करना है, वही खंडित होता है।

(११ क. आपत्ति का समाधान)

तदपि न शोभनं विभाति। पर्युदासशक्तिमाश्रित्याविद्याशब्देन विद्याविरुद्धस्य विपर्ययज्ञानस्याभिधानमिति वृद्धैरङ्गीकारात् । तदाह—

७. नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः ।
वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥ इति ।

८. वृद्धप्रयोगगम्यो हि शब्दार्थः सर्व एव नः ।
तेन यत्र प्रयुक्तो यो न तस्मादपनीयते ॥ इति ।

वह भी अच्छा नहीं लगता क्योंकि पर्युदास-शक्ति का सहारा लेकर 'अविद्या' शब्द के द्वारा, विद्या के विरुद्ध रहने वाले विपर्ययज्ञान (मिथ्याज्ञान) का अर्थ पुराने लोग स्वीकार करते हैं। [निषेध की दो दशायें हैं—प्रसज्य और पर्युदास। प्रसज्यप्रतिषेध में निषेध की प्रधानता रहती है जैसे—अमक्षिकं वर्तते = यहाँ मक्खी तक नहीं है, न पठति, आदि। पर्युदास-प्रतिषेध में भावात्मक

पदार्थ की प्रधानता होती है। इससे सदृश वस्तु का ग्रहण होता है—'अब्राह्मणो धावति' कहने पर, 'ब्राह्मण के सदृश कोई दूसरा व्यक्ति दौड़ रहा है' यह भावात्मक (Positive) अर्थ होता है। 'अविद्या' का अर्थ भी 'विद्या का अभाव' (प्रसज्य) न होकर 'मिथ्याज्ञान' (पर्युदास) है। ऐसा ही अर्थ प्राचीन आचार्यों ने किया है।]

इसे कहा है—'(७) नाम (संज्ञा) और धातु के अर्थ से संबद्ध होने पर नञ् निषेध नहीं करता। [लिङ् आदि प्रत्ययों के अर्थ से संयुक्त होने पर ही यह निषेधक होता है। इसे 'प्रसज्य' कहते हैं—प्रसज्यप्रतिषेधोयं क्रियया सह यत्र नञ्। जहाँ नञ् निषेध नहीं करता वहाँ वह पर्युदास अर्थात् भेद का निर्देश करता है।] 'अब्राह्मण' शब्द में नञ् केवल अन्य (ब्राह्मणभिन्न पुरुष) का तथा 'अधर्म' शब्द में [धर्म के] विरोधी अर्थ का निर्देश करता है। (८) हम लोगों को सारा शब्दार्थ वृद्ध (प्राचीन) पुरुषों के प्रयोग से जानना चाहिए। वृद्ध ने किसी शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है वह शब्द उस अर्थ से पृथक् नहीं किया जाता।'

वाचस्पतिमिश्रैरप्युक्तं—लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थयोः संबन्धः। लोके चोत्तरपदार्थप्रधानस्यापि नञ उत्तरपदाभिधेयोपमर्दकस्य तद्विरुद्धतया तत्र तत्रोपलब्धेरिहापि तद्विरुद्धे प्रवृत्तिरिति।

वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है (त० वै० २।५)—'शब्द और उसके अर्थ का संबन्ध लोक-प्रयोग के आधार पर ही निश्चित किया जाता है। लौकिक प्रयोग में [तत्पुरुष समास में] यद्यपि उत्तर पदार्थ की प्रधानता रहती है किन्तु नञ् तत्पुरुष तो उत्तर पद के अर्थ (अभिधेय) का उपमर्दन (अर्थात् पर्युदास, भेद) करके उस (उत्तर पद के अर्थ) के विरुद्ध रूप में, सर्वत्र, पाया जाता है। इसलिए यहाँ ('अविद्या' शब्द में) भी [नञ् अपने उत्तरपदार्थ—विद्या के] विरुद्ध ही प्रवृत्त हो सकता है।' [अविद्या = विद्या के विरुद्ध → मिथ्याज्ञान।]

एतदेवाभिप्रेत्योक्तम्—'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (पा० यो० सू० २।५) इति। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्यय इत्युक्तं भवति। तद्यथा—अनित्ये घटादौ नित्यत्वाभिमानः। अशुचौ कायादौ शुचित्वप्रत्ययः।

९. स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ इति ।

इसी अभिप्राय से कहा गया है—'अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मा का ज्ञान करना अविद्या है' (पात० यो० सू० २।५)। जहाँ कोई वस्तु नहीं है, वहाँ उस वस्तु का ज्ञान होना विपर्यय है—यही कहने का अभिप्राय है (देखिये यो० सू० १।८)। [अविद्या के ये चार अवान्तर भेद बतलाये जा रहे हैं—अनित्य में नित्य का ज्ञान, अपवित्र मे पवित्र का, दुःख में सुख का तथा अनात्मा में आत्मा का। इसका उलटा भी संभव है—नित्य में अनित्य का आदि। वस्तुतः ये उपलक्षण हैं। इसी से पाप में पुण्य का ज्ञान आदि भी अविद्या ही है। अविद्या को विपर्यय भी कहते हैं क्योंकि दोनों में ही मिथ्याज्ञान होता है।

वह (अविद्या) इस प्रकार है—घटादि अनित्य पदार्थों के नित्य होने का विश्वास रखना, शरीर आदि अपवित्र पदार्थों को पवित्र समझना। [अपवित्र पदार्थों की सूची इस तरह है—'स्थान के कारण (मूत्रादि से युक्त माता के उदर से उत्पन्न होना), बीज (शुक्र और रक्त रूपी उपादान कारण) के कारण, पोषक पदार्थ (भुक्त अन्न और पीत रसादि) के कारण, निःसृत पदार्थ (excretion, पसीना, मल, मूत्रादि) के कारण तथा मृत्यु होने के कारण पंडित लोग शरीर को अपवित्र कहते हैं और इसीलिए [स्नानादि के द्वारा] शरीर में शौच (पवित्रता) का आधान करते हैं।' [ये कारण ऐसे हैं जो वेदपाठियों के शरीर को भी अपवित्र करते हैं अतः शौच का प्रयोग लोग करते हैं।]

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च* दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पात०यो० सू० २।१५) इति न्यायेन दुःखे स्रक्चन्दनवनितादौ सुखत्वारोपः। अनात्मनि देहादावात्मबुद्धिः। तदुक्तम्—

१०. अनात्मनि च देहादावात्मबुद्धिस्तु देहिनाम् ।
अविद्या तत्कृतो बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ॥ इति ।

---

* यो० सू० में 'वृत्तिविरोधाच्च' पाठ है। अभ्यंकर ने मूलस्थ पाठ रखकर संगति बैठायी है।

'चूँकि परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख बना रहता है और साथ-साथ [सत्त्वादि तीन] गुणों की वृत्ति बिना विरोध के सर्वत्र होती है इसलिए विवेकशील पुरुषों के लिए सब कुछ दुःख ही दुःख है' (यो० सू० २।१५)। [सामान्य व्यवहार में जो सुखद पदार्थ हैं विवेकी के लिए वे दुःखद हैं क्योंकि वह उन्हें विष मिले हुए स्वादिष्ठ अन्न के समान समझता है। जो सुख ऊपर से मिल रहा है वह तीन प्रकार के दुःखों का कारण बन जा सकता है। सुख का उपभोग करने से इन्द्रियाँ थक जाती हैं जिससे अंत में दुःख उत्पन्न होता है जिसे **परिणाम–दुःख** कहते हैं। सुखोपभोग के समय दूसरों को अधिक मात्रा में सुख का उपभोग करते देख कर ईर्ष्या होती है इसे **तापदुःख** कहते हैं। सुखभोग के संस्कार चित्त पर पड़ जाते हैं, हम उनका स्मरण करके उन्हें पाने का प्रयत्न करते हैं। उसके साधन यदि नहीं मिले तो दुःख होता है जिसे **संस्कारदुःख** कहते हैं। यही नहीं, सत्त्वादि गुणों की वृत्तियाँ (= सुख, दुःख और मोह) किसी तरह का विरोध किये बिना ही आपस में मिलती हैं। इसलिए, सुख के साधन के रूप में स्वीकृत पदार्थ (वस्तु) में रजोगुण की वृत्ति (दुःख) रहेगी ही। दोनों में कोई विरोध तो है नहीं।' इसलिए विवेकी पुरुष भोग के सभी साधनों को दुःख ही समझते हैं।]

इस नियम से [अविद्या के कारण] लोग माला, चंदन, वेश्या आदि वस्तुतः दुःखद पदार्थों में सुख का आरोप करते हैं। [यह अविद्या है।] फिर, देहादि जो आत्मा नहीं है, उसे आत्मा समझना [भी अविद्या ही है]। इसे कहा है—'देह आदि आत्मा नहीं हैं किन्तु उन्हें देहधारी लोग जब आत्मा समझते हैं तो यही अविद्या है। इसी के कारण संसार का बंधन होता है और उसका नाश मोक्ष कहलाता है ॥ १० ॥'

एवमियमविद्या चतुष्पदा भवति। नन्वेतेषु अविद्याविशेषेषु किंचिदनुगतं सामान्यलक्षणं वर्णनीयम्। अन्यथा विशेषस्यासिद्धेः। तथा चोक्तं भट्टाचार्यैः—

११. सामान्यलक्षणं मुक्त्वा विशेषस्यैव लक्षणम्।
न शक्यं केवलं वक्तुमतोऽप्यस्य न वाच्यता ॥ इति।

तदपि न वाच्यम्। अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति सामान्यलक्षणाभिधानेन दत्तोत्तरत्वात्।

इस प्रकार यह अविद्या चार प्रकार की है। अब कोई पूछ सकता है कि

अविद्या के इन भेदों में अनुगत (विद्यमान) कोई सामान्य लक्षण दें [जिससे अविद्या का लक्षण हम जान सकें]। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो अविद्या के भेदों की ही सिद्धि नहीं होगी। जैसा कि [कुमारिल] भट्ट ने कहा है—'सामान्य लक्षण को छोड़कर केवल विशेष (भेदों) का ही निरूपण कर देना संभव नहीं है, इसलिए यहाँ पर [अविद्या के] भेदों का वर्णन भी नहीं किया जा सकता ॥ ११ ॥'

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि [अविद्या का] सामान्य लक्षण भी दिया गया है—'जहाँ वस्तु नहीं है, वहाँ पर उसका ज्ञान कर लेना [अविद्या है]'। इस लक्षण के द्वारा उत्तर मिल जाता है।

(१२. अस्मिता, राग और द्वेष)

सत्त्वपुरुषयोरहमस्मीत्येकताभिमानोऽस्मिता। तदप्युक्तं—'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' (पात० यो० सू० २।६) इति। सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागः। दुःखाभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपुरस्सरं तत्साधनेषु निवृत्तिर्द्वेषः। तदुक्तं—'सुखानुशयी रागः' (पात० यो० सू० २।७), 'दुःखानुशयी द्वेषः' (पात० यो० सू० २।८) इति।

सत्त्व (चित्त, बुद्धि) और पुरुष (आत्मा) के बीच 'मैं हूँ' (अहमस्मि) इस रूप में एकता का बोध करना **अस्मिता** है। इसे भी कहा है—'दृक्शक्ति (द्रष्टा, पुरुष, आत्मा) और दर्शनशक्ति (बुद्धि, करण) दोनों में एकाकारता जैसा मान लेना अस्मिता है' (यो० सू० २।६)। [अनात्मा को आत्मा मानने वाली अविद्या अस्मिता (Egoism) उत्पन्न करती है। अविद्या और अस्मिता में कुछ अन्तर है। अविद्या की अवस्था में बुद्धि आदि में सामान्य रूप से 'अहं' की भावना रहती है किन्तु उसमें कहीं भेद भी रहता है, अभेद भी। परन्तु अस्मिता में आत्यन्तिक (Perfect) रूप से अभेद हो जाता है। एकता का भ्रम पूर्ण रूप से रहता है कि मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ इत्यादि। पुरुष अपरिणामी है, बुद्धि परिणामी। दोनों शक्तियाँ (भोक्ता और भोग्य) बिल्कुल पृथक् हैं। परन्तु दोनों का अभेद ग्रहण कर लेने पर आपसी धर्मों का अध्यास होता है जिससे भोग (Enjoyment) होता है।]

जो पुरुष सुख से अभिज्ञ है वह सुख का स्मरण करके सुख के साधनों की प्राप्ति के लिए तृष्णा करता है—उसकी उक्त प्रतीक्षा ही **राग** है। [गर्धः =

प्रतीक्षा, तृष्णा, आशा, √गृध्। तुल० 'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्' (ईशो० १।१)]। दुःख से परिचित पुरुष दुःख का स्मरण करके जब दुःख के साधनों से निवृत्त होता है वही द्वेष है। ऐसा ही पतंजलि ने कहा है—'सुख में निवास करनेवाला (अनुशयी) राग है' (यो० सू० २।७) तथा 'दुःख में निवास करनेवाला द्वेष है' (यो० सू० २।८)।

(१३. 'अनुशयी' शब्द की सिद्धि में व्याकरण का योग)

किमत्रानुशयिशब्दे ताच्छील्यार्थे णिनिरिनिर्वा मत्वर्थीयोऽभिमतः ? नाद्यः। 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पाणिनिसू० ३।२।७८) इत्यत्र सुपीति वर्तमाने पुनः सुब्ग्रहणस्योपसर्गनिवृत्त्यर्थत्वेन सोपसर्गाद्धातोर्णिनेरनुत्पत्तेः। यथाकथंचित् तदङ्गीकारेऽपि 'अचो ञ्णिति' (पाणि० सू० ७।२।११५) इति वृद्धिप्रसक्तात्रतिशाय्यादिपदवत् अनुशायिपदस्य प्रयोगप्रसङ्गात्।

यहाँ पर प्रश्न है कि 'अनुशयिन्' शब्द की सिद्धि कैसे होती है—क्या ताच्छील्य के अर्थ में (सुखमनुशेते, तच्छीलः सुखानुशयी) णिनि प्रत्यय हुआ है (अनु + √शीङ् + णिनि) अथवा मतुप् (वह उसका है—सः अस्य अस्ति) के अर्थ में (सुख का अनुशय अर्थात् संबन्ध; वह जिसके पास है—सुखानुशयी) इनि प्रत्यय हुआ है (अनुशय + इनि—अत इनिठनौ, पा० सू० ५।२।११५) ?

इनमें पहला विकल्प (णिनि मानने वाला) ठीक नहीं। कारण यह है कि 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा० सू० ३।२।७८) अर्थात् 'वह उसका शील या आदत है' इस अर्थ में जातिवाचक को छोड़कर किसी भी सुबन्त शब्द के उपपद में (पूर्व में) रहने पर धातु से णिनि प्रत्यय होता है [जैसे उष्णं भुङ्क्ते, तच्छीलः उष्णभोजी = जिसे बराबर गर्मागर्म भोजन की आदत है। जो कभी-कभी गर्म भोजन करता है उसे उष्णभोजी नहीं कहेंगे।] पहले से ['सुपि स्थः' (३।२।४) सूत्र से अनुवृत्त] 'सुपि' शब्द के वर्तमान रहने पर भी प्रस्तुत सूत्र में जो 'सुपि' शब्द पुनः लिया गया है उसका अभिप्राय यही है कि उससे 'उपसर्ग उपपद' की निवृत्ति हो, अतः उपसर्गसहित धातु में णिनि प्रत्यय की प्राप्ति नहीं हो सकती। ['सुपि स्थः' (३।२।४) से 'सुपि' शब्द की अनुवृत्ति आगे के सूत्रों में होती है। उन सूत्रों मे अलग से 'सुपि' कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि किसी सूत्र (जैसे—'सुप्यजातौ०' में) 'सुपि' कहा गया तो कोई विशेष कारण है। वह

कारण क्या है ? बात यह है कि 'सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' (३।२।६१) इस लम्बे सूत्र से एक नया प्रकरण आरम्भ हो गया— इस सूत्र में गिनाये गये धातुओं से सुबन्त के उपपद में होने पर तो प्रत्यय होते ही हैं ('सुपि स्थः' से 'सुपि' की अनुवृत्ति करके) साथ-साथ उपसर्ग के उपपद में रहने पर भी प्रत्यय होते हैं। 'सुप्यजातौ' में इसी उपसर्ग की निवृत्ति करने के लिए 'सुपि' का पुनः प्रयोग हुआ है। (३।२।६१) से 'सुपि उपसर्गे' दोनो की अनुवृत्ति होने लगी थी—दोनों की निवृत्ति साथ-साथ की गई और अभीष्ट 'सुपि' का प्रयोग किया गया है। फलतः 'अनु + शी + णिनि' नहीं हो सकता। सोपसर्गक धातु से णिनि प्रत्यय नहीं होता।]

यदि किसी प्रकार इस णिनि को स्वीकार भी करें* तो भी 'अचो ञ्णिति' अर्थात् ञित् या णित् (जिस प्रत्यय में ञ् या ण् का अनुबन्ध लगा हो) प्रत्यय के होने पर उसके पूर्व के स्वरवर्ण (अच्) को वृद्धि हो (पा० सू० ७।२।११५)— इस सूत्र से वृद्धि की प्राप्ति होगी और 'अतिशायिन्' आदि शब्दों की 'अनुशायिन् (अनुशायी)' शब्द का ही प्रयोग होता। [अनु + √शी + णिनि = वृद्धि होने से, अनुशै + इन् = आयादेश, अनुशायिन्। तात्पर्य यह है कि णिनि प्रत्यय से 'अनुशयी' नहीं हो सकता।]

न द्वितीयः। 'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' इति तत्प्रतिषेधात्। अत्र चानुशयशब्दस्याजन्तत्वेन कृदन्तत्वात्। तस्मादनुशयिशब्दो दुरुपपाद इति चेत्—नैतद् भद्रम्। भावानवबोधात्। प्रायिकाभिप्रायमिदं वचनम्।

द्वितीय विकल्प (इनि प्रत्यय तद्धित का मानें तो) भी ठीक नहीं। कारण यह है कि निम्नलिखित कारिका के द्वारा इसका निषेध किया गया है—'ये दोनों प्रत्यय (इनि = इन् तथा ठन् = इक; उदाहरण—दण्डी, दण्डिकः) एकाक्षर शब्द के बाद, कृदन्त शब्द के बाद, जातिवाचक शब्द के बाद तथा सप्तमी के अर्थ में नहीं होते हैं' [यह कारिका काशिका (५।२१।११५) में

* 'सुपि स्थः' में सुप् का अर्थ उपसर्गहीन सुप् (केवल) है, 'सत्सूद्विष०' में उपसर्ग का पृथक् विधान है। यदि 'सुपि स्थः' से सुपि लाते तो 'अनुशायी' आदि शब्दों में णिनि प्रत्यय नहीं होता। उपसर्ग से भी णिनि प्रत्यय हो अतः पुनः सुपि कहा है। उपसर्ग होने पर णिनि होता भी है—अनुयायिवर्गः (रघु० २।४), विसारि सर्वतः (माघ १।२), अनुजीविभिः (किरा० १।४) आदि। यह व्याख्या भाष्यसंमत है।

उद्धृत है तथा वहाँ उसकी व्याख्या भी की गई है। मतुप् के अर्थ में होने वाले इन् और ठन् प्रत्ययों का वहाँ निषेध किया गया है। एकाक्षर शब्द से—स्ववान्। खवान्। कृदन्त से—कारकवान्। जाति से—व्याघ्रवान्। सिंहवान्। सप्तमी के अर्थ में—(दण्डाः अस्यां सन्ति इति) दण्डवती शाला।] चूँकि अनुशय शब्द कृदन्त (अनु + शी + अच्—'एरच्' ३।३।५६) है क्योंकि अच् प्रत्यय से बना है [अतः उसमें इनि प्रत्यय नहीं हो सकता।] इसलिए 'अनुशयी' शब्द की उत्पत्ति कठिन है। [अनुशायी या अनुशयवान् बनाने में कोई आपत्ति नहीं है।]

किन्तु इस तरह संदेह करना उचित नहीं है क्योंकि आप लोग कारिका का भाव नहीं समझते हैं। यह कारिकास्थ वाक्य 'प्रायः ऐसा होता है' इसी अभिप्राय से दिया गया है।

अत एवोक्तं वृत्तिकारेण—इतिकरणो विवक्षार्थः सर्वत्राभिसंबध्यते इति। तेन क्वचिद् भवति—कार्यी कार्यिकस्तण्डुली तण्डुलिकः इति। तथा च कृदन्ताज्जातेश्च प्रतिषेधस्य प्रायिकत्वम्। अनुशयशब्दस्य कृदन्ततया इनेरुपपत्तिरिति सिद्धम्।

इसलिए ही काशिकावृत्ति के रचयिता (जयादित्य) ने कहा है—'[तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (पा० सू० ५।२।९४) में'] इति शब्द विवक्षा का निर्देशक है और बाद के सभी सूत्रों में लगाया जाता है। [विवक्षा = लौकिक प्रयोग के अनुसार प्रत्ययों का विधान]। इसलिए कहीं-कहीं होते हैं—कार्य (कृ + ण्यत् कृदन्त प्रत्यय) + इनि = कार्यिन्। कार्य + ठन् = कार्यिक। तण्डुल (जाति) + इनि = तण्डुलिन्। तण्डुल + ठन् = तण्डुलिक।' इससे पता लगता है कृदन्त और जातिवाचक से यह निषेध प्रायिक (वैकल्पिक, विवक्षाधीन) है। अनुशय शब्द कृदन्त है अतः इससे इनि प्रत्यय हो सकता है—यह सिद्ध हुआ।

(१४. अभिनिवेश का निरूपण)

पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलात्सर्वस्य प्राणभृन्मात्रस्या कृमेरा च विदुषः संजायमानः शरीरविषयादेर्मम वियोगो मा भूदिति प्रत्यहं निमित्तं विना प्रवर्तमानो भयरूपोऽभिनिवेशः पञ्चमः क्लेशः। मा न भूवं हि भूयासमिति प्रार्थनायाः प्रत्यात्ममनुभवसिद्धत्वात्। तदाह—'स्वरसवाही विदुषो-

ऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः' (पात० यो० सू० २।९) इति। ते चाविद्यादयः पञ्च सांसारिकविविधदुःखोपहारहेतुत्वेन पुरुषं क्लिश्नन्तीति क्लेशाः प्रसिद्धाः।

पूर्व जन्म में अनुभूत मृत्यु के दुःख के अनुभव की वासना (संस्कार, impression) के कारण सभी प्राणधारियों में—चाहे वे कृमि हों या विद्वान्—सबों में उत्पन्न होने वाला, 'शरीर, विषय आदि से मेरा वियोग न हो' इस तरह बिना कारण के भय के रूप में प्रवृत्त होने वाला पाँचवाँ क्लेश **अभिनिवेश** है। 'मैं कभी अतीत का विषय न बन जाऊँ किन्तु सदा रहूँ' इस तरह की प्रार्थना प्रत्येक पुरुष करता है जो अनुभव से सिद्ध है। इसे पतंजलि ने कहा है—'[मरने का भय जो हर एक प्राणी में] स्वभावतः वह रहा है और विद्वानों के लिए भी वैसा ही प्रसिद्ध (रूढ़) है [जैसा कि मूर्खों के लिए], वह अभिनिवेश नाम का क्लेश है' (पा० यो० सू० २।९)।

अविद्या आदि ये पाँचों क्लेश विविध सांसारिक दुःखों की प्राप्ति (उपहार) कराने के कारण पुरुष को कष्ट देते हैं (√क्लिश्) तथा प्रसिद्ध हैं।

(१५. कर्म, विपाक और आशय)

कर्माणि विहितप्रतिषिद्धरूपाणि ज्योतिष्टोमब्रह्महत्यादीनि। विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः। आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः धर्माधर्मसंस्काराः। तत्परिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योगः। निरोधो नाभावमात्रमभिमतम्। तस्य तुच्छत्वेन भाव-रूपसाक्षात्कारजननक्षमत्वासंभवात्। किंतु तदाश्रयो मधुमती-मधुप्रतीका-विशोका-संस्कारशेषाव्यपदेश्यश्चित्तस्यावस्थाविशेषः। निरुध्यन्तेऽस्मिन्प्रमाणाद्याश्चित्तवृत्तय इति व्युत्पत्तेरुपपत्तेः।

कर्म विहित और प्रतिषिद्ध के रूप में [दो प्रकार के हैं जैसे—] ज्योतिष्टोम (विहित कर्म) तथा ब्रह्महत्या (प्रतिषिद्ध कर्म) आदि। कर्म के फलों को **विपाक** कहते हैं। वे हैं—जाति (जन्म), आयु (जीवन का समय) तथा भोग (सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करनेवाले साधनों का प्रयोग)। फल के पूर्णतः परिणत होने के समय तक जो चित्त की भूमि में अवस्थित रहते हैं (√शी) वे **आशय** हैं अर्थात् धर्म और अधर्म के संस्कार।

चित्तवृत्ति का वह निरोध जो इन क्लेशों का विरोधी है। वही, योग है निरोध

का यहाँ पर केवल 'अभाव' अर्थ ही नहीं लिया गया है क्योंकि [केवल अभाव अर्थ लेने से तो] निरोध स्वरूपहीन हो जायगा तथा वह भावात्मक (Positive) साक्षात्कार (=ध्येय का साक्षात्कार) उत्पन्न करने में असमर्थ हो जायगा। इसीलिए निरोध से चित्त की उन अवस्थाओं का अर्थ लेते हैं जो उस (अभाव) पर आश्रित हैं तथा मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा के नाम से पुकारी जाती हैं। 'जिसमें प्रमाणादि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध कर दी जाती हैं वह निरोध है'—इस व्युत्पत्ति (निरुक्ति) से भी यही बात सिद्ध होती है।

विशेष—संप्रज्ञात समाधि के चार अवान्तर भेद हम देख चुके हैं। सवितर्क समाधि में चित्त की जो अवस्था होती है उसे **मधुमती** कहते हैं। सविचार समाधि में चित्त की अवस्था **मधुप्रतीका**, सानन्द में **विशोका** तथा सास्मित में **संस्कारशेषा** कहलाती है। ये अवस्थायें चूँकि भावरूप (Positive) हैं अतः ध्येय का साक्षात्कार आसानी से हो सकता है।

(१६. वृत्तिनिरोध के उपाय—अभ्यास और वैराग्य)

'अभ्यासवैराग्याभ्यां वृत्तिनिरोधः। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।' (पात० यो० सू० १।१२-१३)। वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः प्रशान्तवाहितारूपः परिणामविशेषः स्थितिः। तं निमित्तीकृत्य यत्नः पुनः पुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनमभ्यासः। 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इतिवत् निमित्तार्थेयं सप्तमीत्युक्तं भवति।

अभ्यास (Exercise) और वैराग्य (Dispassion) के द्वारा वृत्तियों का निरोध होता है। [तुलनीय—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (यो० सू० १।१२)। चित्त एक नदी की तरह है जिसका प्रवाह स्वभावतः विषयों की ओर जाता है। विषयों में दोष देखने से जो वैराग्य होता है उसी से चित्त की धारा रुकती है। रुक जाने पर विवेक-दर्शन का अभ्यास करने से वह धारा विवेक मार्ग की ओर अभिमुख हो जाती है। इसी उपायद्वय से ध्येय वस्तु के आकार की वृत्ति का प्रवाह स्थिर तथा दृढ़ होता है।] 'इनमें से चित्त की स्थिति के विषय में यत्न करना अभ्यास है।' (यो० सू० १।१३)। जो चित्त [राजस तथा तामस] वृत्तियों से रहित हो गया है वह जब अपने रूप में अवस्थित हो शान्त होकर बहता है (प्रशान्तवाही) तब ऐसे परिणाम (अवस्थान) को स्थिति कहते हैं। उस परिणाम को निमित्त मानकर (उसकी प्राप्ति के

लिए) यत्न किया जाता है अर्थात् उस रूप में ही चित्त में बार-बार बैठाया जाता है यही अभ्यास है। ['स्थितौ' शब्द में] यहाँ सप्तमी विभक्ति 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' (चमड़े के लिए बाघ को मारते हैं) इसकी तरह [= निमित्तात्कर्मयोगे' २।३।३ से] निमित्त के अर्थ में हुई है—यही कहना है।

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (पात० यो० सू० १।१५)। ऐहिकपारत्रिकविषयादौ दोषदर्शनान्निरभिलाषस्य 'ममैते विषया वश्याः' 'नाहमेतेषां वश्यः' इति विमर्शो वैराग्यमित्युक्तं भवति।

'दृष्ट विषयों (स्त्री, अन्न, जल आदि) तथा आनुश्रविक विषयों (वेदों में बतलाये गये स्वर्ग आदि) से तृष्णा हटा लेने वाले व्यक्ति जब [विषयों को अपने] वश में कर लेने का बोध करते हैं तब उसे वैराग्य कहते हैं' (यो० सू० १।१५)। ऐहिक और पारलौकिक दोनों तरह के विषयों में दोष (विनाश, परिताप, सातिशय, असूया आदि) देख लेने के बाद जिस व्यक्ति में [उन्हें प्राप्त करने की] लालसा नष्ट हो गई हो तथा जब वह 'ये विषय मेरे ही वश में हैं' और 'मैं इनके वश में नहीं हूँ', इस प्रकार का विचार करने लगे वह दशा वैराग्य कहलाती है।

विशेष—वैराग्य की चार संज्ञायें हैं—यतमान-संज्ञा (रागादि के पाक के लिए यत्न करना), व्यतिरेकसंज्ञा (पके हुए और पकाये जाते हुए कषायों में भेद करना), एकेन्द्रिय-संज्ञा (पके हुए कषायों का मन में उत्सुकता के रूप में रहना) तथा वशीकारसंज्ञा (लौकिक तथा अलौकिक विषयों की उपेक्षा कर देना)। इस प्रकार दोनों उपायों से चित्त की वृत्तियों का विरोध होता है। अब अभ्यास और वैराग्य की सिद्धि कैसे हो? इसके लिए क्रियायोग बतलाते हैं।

(१७. समाधिप्राप्ति के लिए क्रियायोग)

समाधिपरिपन्थिक्लेशतनूकरणार्थं च समाधिलाभार्थं प्रथमं क्रियायोगविधानपरेण योगिना भवितव्यम्। क्रियायोगसंपादनेऽभ्यासवैराग्ययोः संभवात्। तदुक्तं भगवता—

१२. आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
(गी० ६।३) इति।

समाधि के मार्ग में शत्रु की तरह रुकावट डालने वाले क्लेशों को क्षीण करने (उनकी कार्यकरी शक्ति को समाप्त करने) के लिए तथा समाधि की प्राप्ति के लिए, सबसे पहले योगी को क्रियायोग (Practical concentration) के विधान के अनुसार चलना चाहिए। क्रियायोग संपन्न होने पर ही अभ्यास और वैराग्य संभव हैं। इसे भगवान् कृष्ण ने ही कहा है—'जो मुनि योग (चित्तवृत्तिनिरोध) पर आरोहण करने की इच्छा रखते हैं उनके लिए कर्म (क्रियायोग) ही साधन बतलाया गया है। यदि वही मुनि योगारूढ़ हो गया हो तब [उसके ज्ञान के परिपाक के लिए] शम (सभी कर्मों से संन्यास लेना) ही कारण कहा गया है।' (गी० ६।३)।

विशेष—गीता में कृष्ण ने इसके बाद ही योगारूढ़ मुनि का लक्षण दिया है—

> यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
> सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ (गी० ६।४)।

अर्थात् जब पुरुष न तो इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, जब वह सभी संकल्पों से संन्यास ले लेता है तभी योगारूढ़ कहलाता है।

क्रियायोगश्चोपदिष्टः पतञ्जलिना—'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (पात० यो० सू० २।१) इति। तपःस्वरूपं निरूपितं याज्ञवल्क्येन—

> **१३. विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।**
> **शरीरशोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम् ॥ इति ।**

प्रणवगायत्रीप्रभृतीनां मन्त्राणामध्ययनं स्वाध्यायः ।

क्रियायोग का उपदेश भी पतंजलि ने किया है—'तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (परमेश्वर में सभी कर्मों को अर्पित कर देना)—ये क्रियायोग हैं' (यो० सू० २।१)। तप का स्वरूप याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार निश्चित किया है—'विधिवाक्यों के कथन के अनुसार कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा जो शरीर का शोषण किया जाता है उसे ही तपस्याओं में सर्वोत्तम तप माना गया है।' प्रणव (ॐकार), गायत्री आदि मन्त्रों का अध्ययन (पारायण) करना **स्वाध्याय** है।

विशेष—कृच्छ्र एक व्रत है जिसके कई भेद हैं। उनमें प्राजापत्य नाम का कृच्छ्र बारह दिनों में संपन्न होता है। प्रथम तीन दिनों तक प्रातःकाल

भोजन करे, फिर तीन दिनों तक सायंकाल भोजन करे, उसके बाद तीन दिनों तक बिना माँगे जो मिले खा ले और अन्त में तीन दिनों तक कुछ न खाये। (मनु० ११।२११)। चान्द्रायण व्रत चन्द्र की गतिविधि से एक महीने में संपन्न होता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपद् को मोर के अण्डे के बराबर एक ग्रास (कवल) खायें, द्वितीया को दो—इस क्रम से बढ़ाते जायँ और पूर्णिमा के दिन पन्द्रह ग्रास खायें। फिर कृष्ण पक्ष की प्रतिपद् को चौदह ग्रास, द्वितीया को तेरह—इस क्रम से घटाते-घटाते अमावस्या को बिल्कुल उपवास करें। इसे यवमध्य चान्द्रायण कहते हैं क्योंकि यव के दाने के समान इसमें भोजन की मात्रा बीच में अधिक हो जाती है। जब कृष्णपक्ष की प्रतिपद् से आरम्भ करके पूर्णिमा तक करते हैं तो उसमें बीच में उपवास का दिन पड़ता है। स्मरणीय है कि कृष्णपक्ष में भोजन कम करते जाना है, शुक्लपक्ष में बढ़ाते जाना है। इस तरह के दूसरे चान्द्रायण को पिपीलिकामध्य चान्द्रायण कहते हैं क्योंकि चींटी के बीच का भाग जैसे पतला होता है, वैसे ही भोजन की मात्रा बीच में कम करनी है।

मंत्र शब्द का अर्थ है जिसके मनन करने से त्राण (रक्षा) हो। कल्पसूत्रों में मंत्रों की अगम्य और अचिंत्य शक्ति का वर्णन है। तुलसीदास ने भी कहा है।

मंत्र महामनि विषय ब्याल के।
मेटत कठिन कुअंक भाल के॥ (रा० च० मा० १।३१।५)।

अब योगशास्त्र की एक अलग शाखा—मंत्रशास्त्र—का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

(१८. मंत्र और उनका विवेचन)

ते च मन्त्रा द्विविधाः—वैदिकास्तान्त्रिकाश्च। वैदिकाश्च द्विविधाः—प्रगीताः अप्रगीताश्च। तत्र प्रगीताः सामानि। अप्रगीताश्च द्विविधाः—छन्दोबद्धास्तद्विलक्षणाश्च। तत्र प्रथमा ऋचः, द्वितीया यजूंषि। तदुक्तं जैमिनिना—'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः।' (जै० सू० २।१।३३-३५) इति

ये मंत्र दो प्रकार के हैं—वैदिक और तांत्रिक। वैदिक मंत्रों के भी दो भेद हैं—प्रगीत (गेय) तथा अप्रगीत (अगेय)। प्रगीत मन्त्रों में साम आते हैं तथा अप्रगीत के दो भेद हैं—छन्दों में बँधे हुए तथा छन्दों से भिन्न। छन्दों में बँधे हुए वैदिक मंत्र ऋचायें हैं और छन्दों से भिन्न यजुष्। इसे जैमिनि ने [मीमांसा-

सूत्र २।१।३३-३५ में] कहा है—'इन मंत्रों में ऋक् वह है जहां [वाक्य में] अर्थ के अनुसार चरणों की व्यवस्था होती है। गीतियों (गान के प्रकारों) में साम नाम दिया जाता है। अवशिष्ट मन्त्रों में (जहां न पादव्यवस्था है न गान ही) यजुः शब्द का प्रयोग होता है।'

तन्त्रेषु कामिककारणप्रपञ्चाद्यागमेषु ये ये वर्णितास्ते तान्त्रिकाः। ते पुनर्मन्त्रास्त्रिविधाः—स्त्रीपुंनपुंसकभेदात्। तदाह—

१४. स्त्रीपुंनपुंसकत्वेन त्रिविधा मन्त्रजातयः।
स्त्रीमन्त्रा वह्निजायान्ता नमोऽन्ताः स्युर्नपुंसकाः॥
१५. शेषाः पुमांसस्ते शस्ताः सिद्धा वश्यादिकर्मणि॥ इति।

तंत्रों (शास्त्रों) में अर्थात् कामिक, कारण, प्रपंच आदि आगमों में जिन-जिन मन्त्रों का वर्णन है वे तांत्रिक मन्त्र हैं। ये तांत्रिक मंत्र भी तीन प्रकार के हैं—स्त्रीलिंग, पुंल्लिंग तथा नपुंसकलिंग। उसे कहा है—"स्त्री, पुरुष और नपुंसक होने के कारण मन्त्रों की तीन जातियाँ हैं। जिनके अंत में 'स्वाहा' (अग्नि की पत्नी) शब्द रहे वे स्त्रीलिंग हैं, जिनके अंत में 'नमः' शब्द है वे नपुंसक हैं तथा अवशिष्ट मंत्र पुरुष हैं, ये ही सबसे अच्छे हैं और वश्य आदि कर्मों में सिद्धि-प्राप्त हैं।"

विशेष—आगम शब्द का अक्षरार्थ इस प्रकार है—

आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥

आगम का लक्षण तंत्रों में इस प्रकार दिया गया है—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥

योगशास्त्र में मन्त्र के छह कर्मों का वर्णन भी है—शान्तिकर्म, वश्यकर्म, स्तम्भनकर्म, विद्वेषकर्म, उच्चाटनकर्म तथा मारणकर्म। शारदातिलक का श्लोक है—

शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने तथा।
मारणान्तानि शंसन्ति षट्कर्माणि मनीषिणः॥

ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्र० अ० ३७) में अग्नि की पत्नी स्वाहा का उल्लेख है—'प्रकृति की कला से सभी शक्तियों के रूप में अग्नि की दाहिका शक्ति अपनी

कामना करनेवाली उत्पन्न हुई। ग्रीष्मकाल में दोपहर के सूर्य की प्रभा को भी अभिभूत कर देनेवाली वह स्वाहा-सुन्दरी अग्नि की पत्नी हुई।'

(१८ क. मंत्रों के दस संस्कार)

जननादिसंस्काराभावेऽपि निरस्तसमस्तदोषत्वेन सिद्धिहेतुत्वात् सिद्धत्वम्। स च संस्कारो दशविधः कथितः शारदातिलके—

१६. मन्त्राणां दश कथ्यन्ते संस्काराः सिद्धिदायिनः।
निर्दोषतां प्रयान्त्याशु ते मन्त्राः साधु संस्कृताः॥

ऊपर मंत्रों को सिद्ध होना कहा है। यह इसलिए कि वे जनन आदि संस्कारों के अभाव में भी सभी दोषों से रहित हैं तथा सिद्धि प्रदान करते हैं। शारदातिलक में संस्कार के इन दस भेदों का वर्णन हुआ है—'मंत्रों के दस सिद्धिदाता संस्कार कहे जाते हैं। अच्छी तरह से संस्कृत (संस्कारयुक्त) कर दिये जाने पर ये मंत्र शीघ्र ही निर्दोष हो जाते हैं॥ १६॥'

१७. जननं जीवनं चैव ताडनं बोधनं तथा।
अभिषेकोऽथ विमलीकरणाप्यायने पुनः॥
१८. तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः।
मन्त्राणां मातृकायन्त्रादुद्धारो जननं स्मृतम्॥
१९. प्रणवान्तरितान्कृत्वा मन्त्रवर्णाञ्जपेत्सुधीः।
मन्त्रार्णसंख्यया तद्धि जीवनं संप्रचक्षते॥

'[ये संस्कार हैं—] जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन, गोपन—ये दस संस्कार मंत्रों के हैं। मातृकायंत्र (अक्षरों का बना हुआ यंत्र) से मंत्रों का उद्धार करना **जनन** (Begetting) संस्कार माना गया है॥ १७-१८॥ मंत्र के अक्षरों को प्रणव (ॐ कार) से घेर कर (बीच में प्रणव रखकर) मंत्र के वर्णों की संख्या के जितना जप करना चाहिए—इसे ही **जीवन** (Vivifying) कहते हैं॥ १९॥ [किसी मंत्र में जितने वर्ण (अर्ण) हों जप की संख्या भी उतनी ही होगी। जैसे—'नमः शिवाय' इस मंत्र में पाँच वर्ण हैं तो इसका जप भी पाँच बार ही करना है। प्रत्येक अक्षर के बाद प्रणव देना है—ॐ न ॐ मः ॐ शि ॐ वा ॐ य ॐ इस तरह पाँच बार जप करें तो मंत्र का जीवन संस्कार हो जायगा।]

विशेष—मातृकायंत्र वर्णों का बना हुआ एक यंत्र (Figure) है जिसमें अक्षरों का न्यास या स्थापन होता है। मंत्र की प्राप्ति के लिए प्रत्येक तांत्रिक को यह यंत्र बनाना पड़ता है। यह चतुर्भुज होता है। शक्तिमंत्र के उद्धार के लिए कुंकुम से, विष्णुमंत्रोद्धार में चंदन से तथा शिवमंत्र के उद्धार में भस्म से स्वर्ण आदि के पात्र में बनाते हैं। क से लेकर म तक के पाँच वर्गों को क्रमशः पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम में तथा अन्तःस्थ वर्णों को वायव्य में, ऊष्म वर्णों को उत्तर में और ल, क्ष को ईशान कोण में लिखे। इसी यंत्र से मंत्र के अक्षरों की भावना करें।

२०. मन्त्रवर्णान्समालिख्य ताडयेच्चन्दनाम्भसा।
प्रत्येकं वायुबीजेन ताडनं तदुदाहृतम् ॥
२१. विलिख्य मन्त्रवर्णांस्तु प्रसूनैः करवीरजैः।
मन्त्राक्षरेण संख्यातैर्हन्यात्तद्बोधनं स्मृतम् ॥
२२. स्वतन्त्रोक्तविधानेन मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया।
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद्विशुद्धये ॥
२३. संचिन्त्य मनसा मन्त्रं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत्।
मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री विमलीकरणं हि तत् ॥

'मंत्र के वर्णों को लिखकर चन्दन-जल से उसे मारना चाहिए और हर एक बार वायुबीज (यं) का उच्चारण करते रहें—इसे ही **ताडन** संस्कार (Smiting) कहते हैं ॥२०॥ मंत्र के वर्णों को लिखकर करवीर (कनेर) के फूलों से मंत्र के अक्षरों की जितनी संख्या हो उतने बार मारना चाहिए—इसे **बोधन** (Awakening) मानते हैं ॥ २१ ॥ अपने तंत्र में कहे गये विधान के अनुसार मंत्र-साधक को मंत्र के वर्णों की संख्या के जितने बार पीपल के पत्तों से मंत्र का **अभिषेक** (Sprinkling) शुद्धि के लिए करना चाहिए ॥ २२ ॥ मन में मंत्र का चिंतन करते हुए मंत्र-साधक को, ज्योतिर्मन्त्र के द्वारा, मंत्र में विद्यमान तीनों मलों को जला देना चाहिए—यही विमलीकरण (Purification) है ॥ २३ ॥ [ये तीन मल हैं—मायिक, कार्मण और आनव्य (अनवीनता, वृद्धता)। ये मल मंत्रों के लिंग के अनुसार रहते हैं। स्त्रीलिंग मंत्रों में मायिक, पुंल्लिंग में कार्मण और नपुंसक में आनव्य।]

२४. तारव्योमाग्निमनुयुग्ज्योतिर्मन्त्र उदाहृतः।
कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः ॥

२५. वारिबीजेन विधिवदेतदाप्यायनं मतम् ।
मन्त्रेण वारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं स्मृतम् ॥
२६. तारमायारमायोगो मनोर्दीपनमुच्यते ।
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम् ॥

'तार (ॐ), व्योम (ह), अग्नि (र), मनु (औ) [तथा अनुस्वार) से युक्त होने पर (= ॐ ह्रौं) ज्योतिर्मन्त्र बनता है। विधिपूर्वक जपे गये (जप्त) वारिबीज (= वं) के द्वारा मन्त्र के (मनोः) प्रत्येक वर्ण पर कुश से जल छिड़कना (कुशोदकेन प्रोक्षणम्) आप्यायन (Fattening) संस्कार है। मंत्रयुक्त जल से मंत्र में तर्पण करना (जल छोड़ना) **तर्पण** (Satisfying) संस्कार है ॥ २४–२५ ॥ तार (ॐ), मायाबीज (ह्रीं) और लक्ष्मीबीज (श्रीं) से मन्त्र (मनु) को संयुक्त करना **दीपन** (Illuminating) कहलाता है। जिस मंत्र का जप करना है, उसे प्रकाशित नहीं करना **गोपन** संस्कार (Concealing) है ॥ २६ ॥

२७. संस्कारा दशमन्त्राणां सर्वतन्त्रेषु गोपिताः ।
यत्कृत्वा संप्रदायेन मन्त्री वाञ्छितमश्नुते ॥
२८. रुद्धकीलितविच्छिन्नसुप्तशप्तादयोऽपि च ।
मन्त्रदोषाः प्रणश्यन्ति संस्कारैरेभिरुत्तमैः ॥ इति ।
तदलमकाण्डताण्डवकल्पेन तन्त्ररहस्योद्घोषणेन ।

'मन्त्रों के ये दस संस्कार सभी तन्त्रों में छिपाये गये हैं। संप्रदाय-ज्ञानपूर्वक (गुरु-शिष्य-परम्परा से जानकर) जो मन्त्र-साधक इन्हें संपादित करता है वह अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति करता है ॥ २७ ॥ रुद्ध (आदि, मध्य या अन्त में लं लं से युक्त), कीलित, विच्छिन्न, सुप्त, शप्तादि सारे मन्त्रदोष इन उत्तम संस्कारों से नष्ट हो जाते हैं' ॥ २८ ॥*

---

* तुलनीय—आदिमध्यावसानेषु भूबीजद्वन्द्वलाञ्छितः ।
रुद्धमन्त्रः स विज्ञेयो भुक्तिमुक्तिविवर्जितः ॥ १ ॥
माया नमामि च पदं नास्ति यस्मिन्स कीलितः ।
मनोर्यस्यादिमध्यान्तेष्वानिलं बीजमुच्यते ॥ २ ॥
संयुक्तं वा वियुक्तं वा स्वराक्रान्तं त्रिधा पुनः ।
चतुर्धा पञ्चधा वाथ स मन्त्रश्छिन्नसंज्ञकः ॥ ३ ॥
त्रिवर्णो हंसहीनो यः सुषुप्तः समुदाहृतः ॥
भूबीज=लं । शप्त=किसी के द्वारा जिसकी शक्ति नष्ट हो गई हो ।

तो अकाण्ड (असमय में) ताण्डव-नृत्य की तरह यहाँ पर तन्त्रशास्त्र के रहस्य का व्याख्यान क्यों करें ? [अपने प्रस्तुत प्रसंग पर चलें ।]

(१९. ईश्वरप्रणिधान और क्रियायोग का उपसंहार)

ईश्वरप्रणिधानं नामाभिहितानामनभिहितानां च सर्वासां क्रियाणां परमेश्वरे परमगुरौ फलानपेक्षया समर्पणम् । यत्रेद-मुक्तम्—

२९. कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि विन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥इति।

विहित या अविहित (वैदिक या लौकिक)—सभी प्रकार के कर्मों को परम गुरु परमेश्वर में, फल की आशा बिना रखे हुए ही, समर्पित कर देना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। इसीलिए यह कहा गया है—'किसी कामना से या बिना किसी कामना के जो शुभ या अशुभ कर्म मैं कर रहा हूँ, वह सब तुम्हें (ईश्वर) को समर्पित कर दे रहा हूँ क्योंकि तुम्हारे द्वारा ही प्रेरित होकर मैं वे कर्म करता हूँ।'

क्रियाफलसंन्यासोऽपि भक्तिविशेषापरपर्यायं प्रणिधानमेव । फलानभिसंधानेन कर्मकरणात् । तथा च गीयते गीतासु भगवता—

३०. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गी० २।४७) इति ।

फलाभिसंधेरुपघातकत्वमभिहितं भगवद्भिर्नीलकण्ठभारती-श्रीचरणैः—

३१. अपि प्रयत्नसंपन्नं कामेनोपहतं तपः ।
न तुष्टये महेशस्य श्वलीढमिव पायसम् ॥ इति ।

क्रियाफल से संन्यास लेना (फल की आशा न रखते हुए कर्म करना) भी प्रणिधान ही है जिसे एक प्रकार की भक्ति भी कहते हैं। इसमें फल की आकांक्षा नहीं रखते हुए कर्म किया जाता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में ऐसा ही कहा

है—'हे अर्जुन, तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने का है फल पाने का अधिकार कभी नहीं है। कर्म-फल की कामना से तुम कर्म मत करो और कर्म न करने में भी तुम अपनी रुचि मत दिखलाओ ॥ ३० ॥' (गी० २।४७)।

[इसके अतिरिक्त] भगवान् श्रीचरण नीलकण्ठ भारती जी ने कहा है कि आकांक्षा रखना हानिकारक भी है—'तपस्या यदि प्रयत्नपूर्वक भी की गई हो किन्तु किसी कामना से उपहत (संयुक्त) हो तो महेश्वर उससे संतुष्ट नहीं होते जैसे कुत्ते के द्वारा चाटा गया दूध [तुष्टिकारक नहीं होता] ॥ ३१ ॥'

(२०. क्रिया ही योग है—शुद्धा सारोपा लक्षणा)

सा च तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानात्मिका क्रिया योगसाधनत्वाद्योग इति शुद्धसारोपलक्षणावृत्त्याश्रयणेन निरूप्यते, यथायुर्घृतमिति।

शुद्धसारोपालक्षणा नाम लक्षणाप्रभेदः। मुख्यार्थबाधतद्योगाभ्यामर्थान्तरप्रतिपादनं लक्षणा। सा द्विविधा—रूढिमूला प्रयोजनमूला च। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—

३२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥
(का० प्र० २।९) इति।

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान के रूप में जो क्रिया है वह योग का साधन है, इसलिए उसे योग भी कहते हैं। ऐसा निरूपण तभी हो सकता है जब शुद्धा सारोपा लक्षणावृत्ति की सहायता लें। जैसे इस उदाहरण में—'आयुः घृतम्' में आयुशब्द से 'आयु का साधन' यह लक्षित होता है, वैसे ही—'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (यो० सू० २।१) में योग शब्द से 'योग का साधन' लक्षित होता है।]

शुद्धा सारोपा लक्षणा लक्षणा वृत्ति का एक अवान्तर भेद है। [शुद्धा लक्षणा गौणी से भिन्न होती है। जो लक्षणा सादृश्य संबंध के आधार पर है उसे **गौणी** कहते हैं जैसे—यह राजा सिंह है। यहाँ वीरता, क्रूरता आदि गुणों के कारण सिंह के सदृश लगने वाले राजा में सिंह शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस लक्षणा का आधार सादृश्य के अतिरिक्त कोई दूसरा संबंध हो उसे **शुद्धा** कहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में योग शब्द योग के साधन के अर्थ में प्रयुक्त

है। यहाँ लक्षणा कार्यकारण-भाव रूपी संबन्ध पर आधारित है। इसलिए शुद्धा लक्षणा है। सारोपा का भेद साध्यवसाना लक्षणा से होता है। विषय और विषयी में भेद करते हुए दोनों का उल्लेख करना आरोप है। जहाँ ऐसा आरोप हो वह **सारोपा** लक्षणा होती है जैसे प्रस्तुत प्रसंग में योग विषयी है क्योंकि यही आरोप्य है, आरोप का विषय है तप आदि क्रियायें। क्रिया और योग दोनों का उल्लेख हुआ है। फिर भी भेद बना हुआ है। 'आयु घी है' में भी 'आयु का साधन घी है—इस तरह भेद बना हुआ है। 'राजा सिंह है' यहाँ भी सारोपा ही है क्योंकि दोनों में भेद बना हुआ है। दूसरी ओर यदि राजा का उच्चारण न करके 'यह सिंह' ऐसा कहें तो यह **साध्यवसाना** लक्षणा हुई। साध्यवसाना में केवल विषयी का ही उल्लेख होता है—विषयी का वाचक शब्द विषयवाचक शब्द को निगल जाता है।]

लक्षणा वह वृत्ति है जिसमें मुख्य अर्थ का बाध (वाक्य के शेष पदों के साथ अन्वय न हो सकना) तथा उसके संबन्ध (योग) के द्वारा दूसरे अर्थ का प्रतिपादन हो। इसके दो भेद हैं—रूढिमूलक तथा प्रयोजनमूलक। इसे काव्यप्रकाश में कहा है—'जहाँ मुख्य अर्थ (Primary Meaning) के साथ अन्वय न हो सके किन्तु उससे संबद्ध अर्थ का अन्वय हो, रूढि या प्रयोजन के कारण जहाँ पर दूसरा अर्थ लक्षित हो वह लक्षणा अर्थात् शब्द की आरोपित क्रिया है।' (काव्यप्रकाश, २।९)।

विशेष—'गङ्गायां घोषः' एक वाक्य है जिसमें 'गंगा' शब्द का मुख्य अर्थ है—'एक नदी का जल'। किन्तु बाधित हो जाता है—जल में घोष (ग्वालों की बस्ती) नहीं रह सकता। इस प्रकार वाक्य में 'गंगा' के मुख्य अर्थ का अन्वय होना असंभव है, इसे ही **बाध** कहते हैं। अब उस मुख्यार्थ का योग (संबन्ध) तट के साथ है। अतः गंगा का मुख्यार्थ 'जल' बाधित होकर अपने से संबद्ध एक दूसरे अर्थ 'तट' का बोध करा देता है—यही बोध लक्षणा है। यद्यपि लक्षणा मुख्य वृत्ति नहीं है तथापि किसी प्रयोजन से इसकी सहायता लेते है। 'गङ्गायां घोषः' में ही यदि लक्षणा को छोड़कर मुख्यार्थ तट शब्द का ही प्रयोग कर दें—'गङ्गातटे घोषः' करें तो इस वाक्य से गंगा के तीर पर स्थित घोष में शीतलता और पवित्रता की प्रतीति सामान्य रूप से हो तो जायगी, परन्तु इन गुणों के अतिशय (Excellence) का बोध नहीं होगा। जब 'गंगा में घोष है' कहते हैं तथा तीरका बोध, गंगा से ही कर लेते हैं, तो शीतलता और पवित्रता के अतिशय का भी बोध होता है। जो चीज गंगा में ही रहेगी वह कितनी शीतल और पवित्र होगी। इसी गुणातिशय के बोध के लिए (प्रयोजन

से) 'गङ्गायां घोषः' कहा गया है। इसे प्रयोजनमूलक लक्षणा कहते हैं। कभी-कभी लक्षणा बिना किसी प्रयोजन के ही लौकिक प्रसिद्धि (रूढि) के आधार पर ही दे देते हैं। इसे रूढिमूलक लक्षणा कहते हैं जैसे—'कर्मणि कुशलः'। कुशल शब्द का मुख्य अर्थ है—कुश लाने वाला। लेकिन इस मुख्यार्थ का अन्वय उक्त वाक्य में नहीं हो सकता। अतः उससे संयुक्त अर्थ की कल्पना होगी। लोक में 'कुशल' शब्द निपुण के अर्थ में रूढ हो गया है। लक्षणा से उसका यही अर्थ लेंगे। कर्मणि कुशलः = कर्मणि निपुणः। दोनों का अर्थ एक ही है, कुछ अधिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसलिए रूढिमूलक है। प्रयोजन-मूलक लक्षणा में अधिक अर्थ की प्रतीति होती है—गंगा में घोष और गंगातट पर घोष दोनों एक नहीं हैं। जो विशेषता पहले वाक्य में है वह प्रयोजन है। रूढिमूलक लक्षणा अभिधा के समान ही होती है।

लक्षणा एक व्यापार है जो शब्द का नहीं होता, मुख्य अर्थ का ही होता है। अर्थ के द्वारा शब्द पर यह व्यापार केवल आरोपित होता है। इसीलिए कहते हैं कि गंगा-शब्द लक्षणा (या अर्थ) के द्वारा तीर का बोध कराता है।

यच्छब्देन लक्ष्यत इत्याख्याते गुणीभूतं प्रतिपादनमात्रं परामृश्यते। सा लक्षणेति प्रतिनिर्दिश्यमानापेक्षया तच्छब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वोपपत्तिः। तदुक्तं कैयटैः—निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरैक्यमापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण। तत्तल्लिङ्गमुपाददत इति।

[काव्यप्रकाश की उपर्युक्त कारिका की दूसरी पंक्ति में विद्यमान] 'यत्' शब्द के द्वारा 'लक्ष्यते' (लक्षित होता है) इस आख्यात-पद (क्रिया Verb) में गौणरूप से रहने पर भी प्रतिपादन अर्थ का बोध होता है। [नैयायिकों का मत है कि जैसे 'पाचक' शब्द में प्रत्यय (ण्वुल्) के अर्थ की प्रधानता है वैसे ही 'पचति', 'पच्यते' आदि क्रियापदों में भी प्रत्यय (तिप्, त आदि) के अर्थ की ही प्रधानता होती है। धात्वर्थ प्रत्ययार्थ का विशेषण है। 'लक्ष्यते' यह क्रिया-पद है जिसमें लक्ष्-धातु का अर्थ है 'प्रतिपादन'। यह धात्वर्थ प्रत्ययार्थ का विशेषण होने के कारण गौण हो गया है किन्तु 'यत्' शब्द के द्वारा इसी गौणार्थ 'प्रतिपादन' का बोध होता है, उससे विशिष्ट प्रत्ययार्थ का बोध नहीं कराता। प्रतिपादित अर्थ को लक्षणा नहीं कहते हैं, प्रतिपादन ही लक्षणा है। यह दूसरा प्रश्न है कि वैयाकरण लोग क्रियापद में प्रकृत्यर्थ (धात्वर्थ) की ही प्रधानता मानते हैं तथा उस मत से 'प्रतिपादन' अर्थ गौण नहीं होगा।]

[अब यह कहा जा सकता है कि 'यत्-तत्' शब्दों में एक ही अर्थ बतलाने का नियम है। यदि 'यत्' के द्वारा प्रतिपादन का अर्थबोध होता है तो 'तत्' के द्वारा भी वही काम होना चाहिए—फलतः 'तत् लक्षणा' कहना चाहिए, 'सा लक्षणा' (स्त्रीलिंग) नहीं। इसका उत्तर देते हैं—] 'सा लक्षणा' (वह लक्षणा है) यहाँ पर विधेय (प्रतिनिर्दिश्यमान, Predicate) के अनुसार तत् शब्द को स्त्रीलिंग के रूप में सिद्धि होती है। ['सा' उद्देश्य है 'लक्षणा' विधेय। दोनों एक ही लिंग में रहेंगे, अतः 'तत्' का स्त्री-रूप 'सा' रखा गया है।]

इसे कैयट ने [महाभाष्य के प्रथम आह्निक के आरंभ में शब्द के स्वरूप-विचार वाले अंश की टीका करते हुए] कहा है—'उद्देश्य और विधेय दोनों में एकता का प्रदर्शन करने वाले सर्वनाम (यत्, तत्, किम् आदि) पर्याय अर्थात् विकल्प (पारी-पारी) से किसी लिंग का ग्रहण करते हैं। [महाभाष्य में वाक्य हैं—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? कि यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः।' दूसरी पंक्ति की व्याख्या में ही कैयट का उक्त कथन है। जब यत् और तत् का सबन्ध नित्य है तब यत् को नपुंसकलिंग में और तत् को पुंल्लिंग में (सः) लिखना कहाँ तक ठीक है? विधेय 'शब्दः' है अतः उद्देश्य (तत्) पुंल्लिंग में ही रखा गया है। यद्यपि 'तत्' शब्द उद्देश्य (यत्) का परामर्श करता है किन्तु यह कोई जरूरी नहीं कि वह उद्देश्य के लिंग के अनुसार चले। विधेय (शब्दः) के लिंग के अनुसार चलने पर भी कोई हानि नहीं। इसीलिए नागेश ने भी उदाहरण दिया है—शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य। अन्य उदाहरण—'योऽसौ पुत्रः स रत्नम्' अथवा 'योऽसौ पुत्रः तद्रत्नम्'। उसी प्रकार—'यत् लक्ष्यते सा लक्षणा'।]

तत्र 'कर्मणि कुशलः' इत्यादि रूढिलक्षणाया उदाहरणम्। कुशाल्लाँतीति व्युत्पत्त्या दर्भादानकर्तरि यौगिकं कुशलपदं विवेचकत्वसारूप्यात्प्रवीणे प्रवर्तमानमनादिवृद्धव्यवहारपरम्परानुपातित्वेन अभिधानवत्प्रयोजनमनपेक्ष्य प्रवर्तते। तदाह—

निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्। (त०वा०) इति।

उनमें 'कर्म में कुशल है' इत्यादि रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण हैं। ['कुशल' शब्द की] व्युत्पत्ति होती है—कुश + √ला (कुश लाने वाला)। इससे यह यौगिक 'कुशल' शब्द दर्भ (कुश) लानेवाले के अर्थ में (मुख्य अर्थ में) रहकर भी, विवेचक (योग्य, विवेकी) होने के साधर्म्य के कारण 'प्रवीण' के अर्थ में प्रवृत्त होता है। [कुश लाने में बड़े विवेक की आवश्यकता है—उसे देखना पड़ता है कौन कुश है, कौन सामान्य घास। निपुण व्यक्ति भी विवेकी होता है। दोनों में

विवेक का धर्म समान है इसलिए कुशल का अर्थ निपुण हो गया ।] इस अर्थ की प्रवृत्ति, बिना किसी प्रयोजन की अपेक्षा रखे ही, होती है । अनादि काल से वृद्ध-व्यवहार की परंपरा में पड़े रहने के कारण [यह अर्थ] अभिधान (वाच्यार्थ प्रकट करने वाली शक्ति या अभिधा) के समान [रूढ़ हो जाता है ।] इसे ही [कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में] कहा है—'रूढिमूलक लक्षणायें प्रायः (काश्चित्) प्रसिद्धि के कारण अभिधान (वाच्यार्थ) की तरह ही हो जाती हैं ।'

तस्माद्रूढिलक्षणायाः प्रयोजनापेक्षा नास्ति । यद्यपि प्रयुक्तः शब्दः प्रथमं मुख्यार्थं प्रतिपादयति, तेनार्थेनार्थान्तरं लक्ष्यत इत्यर्थधर्मोऽयं लक्षणा, तथापि तत्प्रतिपादके शब्दे समारोपितः सञ्शब्दव्यापारः इति व्यपदिश्यते । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं—लक्षणारोपिता क्रियेति ।

इसलिए रूढ़िलक्षणा को प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रहती । यद्यपि यह ठीक है कि प्रयुक्त होने वाला शब्द पहले मुख्य अर्थ का प्रतिपादन करता है और उसी मुख्यार्थ से यह दूसरा अर्थ लक्षित होता है इसलिए अर्थ का यह धर्म ही लक्षणा है [शब्द का नहीं]; फिर भी चूँकि मुख्यार्थ के प्रतिपादक शब्द पर ही इसका आरोप होता है अतः यह शब्द का ही व्यापार है—ऐसा [आलंकारिक विधि से] कहते हैं । इसी अभिप्राय से कहा गया है —'लक्षणा' शब्द का वह व्यापार है जो आरोपित किया जाता है । [रूढिमूलक लक्षणा की विवेचना करने के बाद अब प्रयोजनमूलक लक्षणा के भेदों तथा उनमें प्रत्येक के उदाहरण का उल्लेख करते हैं ।]

(२० क. प्रयोजनमूलक लक्षणा)

प्रयोजनलक्षणा तु षड्विधा—उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा गौणसारोपा गौणसाध्यवसाना शुद्धसारोपा शुद्धसाध्यवसाना चेति । कुन्ताः प्रविशन्ति, मञ्चाः क्रोशन्ति, गौर्वाहीकः, गौरयम् , आयुर्घृतम्, आयुरेवेदम्—इति यथाक्रममुदाहरणानि द्रष्टव्यानि ।

प्रयोजनमूलक लक्षणा के छह भेद हैं जिनके उदाहरण भी क्रमशः देख लिये जायँ—

(१) **उपादानलक्षणा** (Inclusive Indication)—'कुन्ताः प्रविशन्ति' अर्थात् भाला धारण किये हुए पुरुष आते हैं। [यहाँ पर मुख्य अर्थ को वाक्य के साथ अन्वित करने के लिए ही दूसरे अर्थ का ग्रहण किया जाता है। अपने अर्थ का बिना परित्याग किये हुए ही दूसरे अर्थ का ग्रहण करना उपादान कहलाता है। कुन्त का मुख्यार्थ है भाला (Lance), अब भालों में प्रवेश करने की शक्ति नहीं है इसलिए वाक्य में अन्वय करने के लिए तत्संयुक्त परार्थ—कुन्तधारी पुरुष—का ग्रहण किया गया है। इस लक्ष्यार्थ में कुन्त का भी ग्रहण हुआ है, उसे छोड़ा नहीं गया है।]

(२) **लक्षणलक्षणा** (Indicative Indication)—'मञ्चाः क्रोशन्ति' अर्थात् मंच पर बैठे हुए पुरुष चिल्लाते हैं। [शब्दार्थ अपने से सम्बद्ध अर्थ की सिद्धि अर्थात् वाक्य में अन्वय करने के लिए अपना ही (मुख्यार्थ) का त्याग कर देता है। लक्षण /- स्वार्थ को त्याग कर परार्थ को लक्षित करना। मंच को अपना अर्थ यहाँ छोड़ देना पड़ता है। पुरुष चिल्लाते हैं, मंच नहीं। मंच से विशिष्ट पुरुष नहीं चिल्ला सकते हैं। लक्षणा के ये दोनों भेद शुद्धा लक्षणा हैं, गौणी नहीं। गौणी में सादृश्य-सम्बन्ध का आधार रहता है, शुद्धा में सादृश्य से भिन्न सम्बन्धों का आधार लिया जाता है।]

(३) **गौणसारोपा** (Qualified superimponent Indication)—'गौर्वाहीकः' अर्थात् यह पंजाबी बैल है। [आरोप = विषय और विषयी दोनों का अभेद रूप में उपन्यास। जहाँ विषय और विषयी दोनों शब्दशः स्पष्ट हों वही सारोपा है। उक्त उदाहरण में गौ शब्द से, बुद्धि की मंदता आदि गुणों का सादृश्य देखकर, जड़-अर्थ लक्षित होता है। विषयी का निर्देश 'गौ' शब्द से हुआ है, आरोप के विषय का 'वाहीक' शब्द के द्वारा निर्देश हुआ है।]

(४) **गौणसाध्यवसाना** (Qualified Introsusceptive Indication)—'गौरयम्' अर्थात् यह बैल है। [सादृश्य संबंध के आधार पर ही आरोप्यमाण विषयी (गौ) आरोपित विषय को निगल गया है। विषय की सत्ता केवल 'अयम्' (सर्वनाम) के द्वारा प्रकट है, 'वाहीक' बिल्कुल विलीन हो गया।]

(५) **शुद्धसारोपा** (Pure superimponent Indication)—'आयुर्घृतम्' अर्थात् घी ही आयु है। [सादृश्येतर संबंध के आधार पर (शुद्धा) विषयी और विषय का पृथक् उल्लेख रहता है। आयु और घी में सादृश्य संबंध नहीं है, कार्य-कारण-संबंध है। ये दोनों क्रमशः विषयी और विषय हैं—दोनों

का पृथक् उपन्यास भी हुआ है। घी आयु का साधन है। प्रस्तुत योग के प्रसंग में यही लक्षणा है।]

(६) शुद्धसाध्यवसाना (Pure Introsuspective Indication)—'आयुरेवेदम्' यह आयु ही है। [सादृश्येतर संबंध के आधार पर (शुद्धा) विषयी जब विषय को अन्तर्भूत कर ले वही शुद्धा—साध्यवसाना है। आयु (विषयी) घी (विषय) को निगल गया है और सत्ता मात्र उसकी बची है—'इदम्'। इस तरह ये छह भेद हैं।]

तदुक्तम्—

३३. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥
३४. सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका ॥
३५. भेदाविमौ च सादृश्यात्संबन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा ॥

(का० प्र० २।१०-१२) इति।

तदलं काव्यमीमांसामर्मनिर्मन्थनेन।

इसे कहा गया है—'अपनी (मुख्यार्थ की) सिद्धि (वाक्य में अन्वय) करने के लिए परार्थ का ग्रहण करना तथा परार्थ के लिए अपना (मुख्यार्थ का) त्याग कर देना क्रमशः उपादनलक्षणा और लक्षणलक्षणा हैं—इस तरह शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की है ॥३३॥ दूसरी (गौणी) लक्षणा में वह सारोपा है जहाँ विषयी और विषय दोनों अभिहित (शब्द के द्वारा प्रतिपादित) हों। किन्तु जब विषयी के द्वारा दूसरा (=विषय) अन्तर्भूत कर लिया जाय (अपने में मिला लिया जाय) तो वह साध्यवसाना होती है ॥ ३४ ॥ ये दोनों भेद सादृश्य-संबन्ध के कारण होते हैं या सादृश्येतर संबन्ध के कारण होते हैं तो उन्हें क्रमशः गौण (सादृश्य संबन्ध) और शुद्ध (सादृश्येतर संबन्ध) समझना चाहिए—इसलिए लक्षणा छह प्रकार की हुई ॥ ३५ ॥' (काव्यप्रकाश २।१०—१२)।

काव्यशास्त्र के अभिप्राय की अधिक छान-बीन करने से हमें क्या लाभ है ?

(२१. योग के आठ अंग—यम और नियम)

स च योगो यमादिभेदवशादष्टाङ्ग इति निर्दिष्टः। तत्र यमा

अहिंसादयः। तदाह पतञ्जलिः—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (पात० यो० सू० २।३०) इति। नियमाः शौचादयः । तदप्याह—'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' (पात० यो० सू० २।३२) इति।

यमादि भेदों के कारण उक्त योग आठ अंगों से युक्त है, ऐसा निर्देश किया गया है। उन योगों में अहिंसा आदि को **यम** कहते हैं जैसा पतंजलि ने कहा है—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं' (यो० सू० २।३०)। शौच आदि **नियम** हैं। उन्हें भी कहा है—'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये नियम हैं' (यो० सू० २।३२)।

एते च यमनियमा विष्णुपुराणे दर्शिताः—

३६. ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वं मनो नयन्॥

३७. स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः॥

३८. एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विशिष्टफलदाः कामे निष्कामाणां विमुक्तिदाः॥

(वि० पु० ६।७।३६-३८) इति।

विष्णुपुराण में इन यमों और नियमों का प्रदर्शन किया गया है—'अपने मन को [आत्मा का चिन्तन करने के] समर्थ बनाते हुए, निष्काम-भाव से (फल की कामना न करते हुए), योगी ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का सेवन (पालन) करे॥ ३६॥ अपने मन का निग्रह करके (नियतात्मवान्) योगी स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करे और उसी प्रकार परब्रह्म में मन को आसक्त (प्रवण) कर दे (अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान करे)॥३७॥ नियमों के साथ-साथ ये यम पाँच-पाँच की संख्या में बतलाये गये हैं। सकाम भाव से करने पर ये विशेष फल देते हैं, यदि निष्काम भाव से करें तो विमुक्ति देते हैं॥ ३८॥' (विष्णुपुराण, ६।७।३६-३८)।

(२१ क. आसन और प्राणायाम)

स्थिरसुखमासनं (पात० यो० सू० २।४६) पद्मासन-

भद्रासन-वीरासन-स्वस्तिकासन-दण्डकासन-सोपाश्रय-पर्यङ्क-क्रौञ्च-निषदनोष्ट्रनिषदन-समसंस्थानभेदाद्दशविधम् ।

३९. पादाङ्गुष्ठौ निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामभिपूजितम् ।

इत्यादिना याज्ञवल्क्यः पद्मासनादिस्वरूपं निरूपितवान् । तत्सर्वं तत एवावगन्तव्यम् ।

'जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है' (यो० सू० २।४६)। इसके दस भेद हैं—

(१) **पद्मासन**—[दाहिने पैर को बायीं जंघा के ऊपर तथा बायें पैर को दाहिनी जंघा के ऊपर जमाकर रखने से पद्मासन बनता है। यदि बायें और दाहिने हाथों को पीठ की ओर से ले जाकर उनकी उँगलियों से क्रमशः दायें और बायें पैरों के अँगूठों को भी पकड़ लें तो इसे बद्ध पद्मासन कहते हैं। किन्तु इसे याज्ञवल्क्य पद्मासन ही मानते हैं।]

(२) **भद्रासन**—[सीमनी रेखा (लिंग से गुदा की ओर जानेवाली रेखा) के बगल में अंडकोश के नीचे दोनों पैरों की एड़ियाँ जुटा दें तथा दोनों हाथों से पैरों को पकड़े रहें। यह भद्रासन सभी रोगों का नाश करता है।]

(३) **वीरासन**—[एक पैर को मोड़कर दूसरे पैर को उसी प्रकार मोड़ कर एक की जंघा पर दूसरे को रख दे। सामान्य रूप से बैठने के लिए यह अच्छा आसन है।]

(४) **स्वस्तिकासन**—[घुटना और जंघा के बीच मे पैरों के तलवों को रखना ही स्वस्तिकासन है। शरीर को वीरासन की तरह सीधा रखें।]

(५) **दण्डकासन**—[भूमि में जंघा और घुटना सटा कर पैरों को फैला दें। दोनों पैरों के अँगूठे और घुट्टियां (गुल्फ) सटी हों। यह दण्ड-कासन है।]

(६) **सोपाश्रय**—[योगपट्ट (योगाभ्यास के लिए कपड़ा) के साथ बैठना।]

(७) **पर्यङ्क**—[बाहों को घुटने की ओर फैलाकर सो जाना।]

(८) **क्रौंचनिषदन**—[बैठे हुए क्रौंच पक्षी के समान बैठ जाना।]

(९) **उष्ट्रनिषदन**—[बैठे हुए ऊँट की तरह बैठना। दोनों पैरों को पीछे

की ओर मोड़कर घुटने के बल खड़ा हो जाय। पेट के ऊपर से पीछे की ओर झुक कर दोनों हाथों से भूमि में स्थित पैरों को पकड़ ले।]

(१०) **समसंस्थान**—[घुटनों के ऊपर हाथ रखकर सिद्धासन या पालथी लगा लें। शरीर, सिर और गर्दन एक सीध में रहें।]

याज्ञवल्क्य ने पद्मासन आदि का स्वरूप निरूपित किया है—'दोनों हाथों को व्युत्क्रम करके उनसे, जंघाओं के ऊपर रखे गये पैरों के अँगूठों को, पकड़ लें। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, यह सबों के द्वारा पूजित पद्मासन है।' अवशिष्ट आसन वहीं से जान लें।

विशेष—निषदन, संस्थान और आसन तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

आसनों का योगशास्त्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे सामान्य जीवन में भी ये इसलिए उपयोगी हैं कि अनेक रोगों का शमन, चित्त की एकाग्रता, शरीर का आरोग्य, दीर्घायु-प्राप्ति आदि बहुत से लाभ इनसे होते हैं। यदि ठीक से संप्रदायपूर्वक आसन किये जायँ तो कुछ ही दिनों में इनसे अद्भुत चमत्कार देखा जा सकता है। उपर्युक्त आसन तो केवल उदाहरण हैं—सैकड़ों आसनों का वर्णन शास्त्रों में है।

तस्मिन्नासनस्थैर्ये सति प्राणायामः प्रतिष्ठितो भवति। स च श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदस्वरूपः। तत्र श्वासो नाम बाह्यस्य वायोरन्तरानयनम्। प्रश्वासः पुनः कोष्ठ्यस्य बहिर्निःसारणम्। तयोरुभयोरपि संचरणाभावः प्राणायामः।

ननु नेदं प्राणायामसामान्यलक्षणम्। तद्विशेषेषु रेचकपूरककुम्भकप्रकारेषु तदनुगतेरयोगादिति चेत्—नैष दोषः। सर्वत्रापि श्वासप्रश्वासगतिविच्छेदसंभवात्।

इस प्रकार जब आसन की स्थिरता संपन्न (बैठने का अभ्यास) हो जाय तब प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है। प्राणायाम का अर्थ है श्वास और प्रश्वास की गति को विच्छिन्न (रुद्ध) कर देना। उनमें **श्वास** बाहरी वायु को भीतर लाने की क्रिया को कहते हैं। कोष्ठ (शरीर, विशेषतः उदर) में स्थित वायु को बाहर निकालना **प्रश्वास** कहलाता है। उन दोनों का संचरण न होना ही प्राणायाम है।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि यह तो प्राणायाम का सामान्य लक्षण नहीं हुआ क्योंकि यह लक्षण प्राणायाम के भेदों—रेचक, पूरक, कुम्भक—में अनुगत (Applicable) नहीं हो सकता। [कुम्भक में भले ही गति का अभाव हो

किन्तु रेचक और पूरक में तो क्रमशः वायु को निकालने और उसे भीतर लाने की क्रियाओं में गति रहती ही है।]

[इसका उत्तर है कि] यह दोष नहीं है। सभी भेदों में श्वास और प्रश्वास की गति तो विच्छिन्न होती ही है। [अब तीनों भेदों के लक्षण तथा उनमें प्राणायाम के लक्षण की संगति दिखायी जायगी।]

तथा हि—कोष्ठयस्य वायोर्बहिर्निःसरणं रेचकः प्राणायामो यः प्रश्वासत्वेन प्रागुक्तः। बाह्यस्य वायोरन्तर्धारणं पूरको यः श्वासरूपः। अन्तःस्तम्भवृत्तिः कुम्भकः। यस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणाख्यो वायुरवस्थाप्यते। तत्र सर्वत्र श्वासप्रश्वासद्वयगतिविच्छेदोऽस्त्येवेति नास्ति शङ्कावकाशः। तदुक्तं—'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (पात० यो० सू० २।४९) इति।

इसे ऐसे देखें—कोष्ठस्थित वायु का बाहर निकलना रेचक प्राणायाम है जिसे प्रश्वास के रूप में पहले कहा गया है। बाहरी वायु का भीतर प्रवेश कराना पूरक है जिसे श्वास भी कह सकते हैं। वायु को भीतर ही स्तम्भित करने की क्रिया कुम्भक है। इस प्राणायाम में घड़े में रखे हुए जल की तरह निश्चल रूप से प्राणवायु अवस्थित की जाती है। तो इन सबों में श्वास-प्रश्वास दोनों की गति में रुकावट होती ही है, अतः शंका का कोई अवसर ही नहीं है। [रेचक या पूरक में किसी एक तरफ की ही गति रहती है, अतः श्वास-प्रश्वास दोनों की गति तो नहीं रहती। इसके अलावे गतिविच्छेद का अर्थ स्वाभाविक गति का विच्छेद समझना चाहिए। रेचक या पूरक में वायु अपनी स्वाभाविक गति से नहीं चलती। देश या काल की गति की अपेक्षा अधिक गति रहती ही है। वास्तव में रेचक वह है जिसमें प्रश्वास या रेचन के द्वारा वायु की गति का विच्छेद करें। उसी तरह श्वास या पूरण के द्वारा वायु की गति में व्यवधान डालना पूरक प्राणायाम है। कुम्भक में तो दोनों ओर से गति का अभाव रहता है, उसमें तो कुछ कहना ही नहीं।]

यही कहा गया है—'उस (आसन की स्थिरता) के संपन्न हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद कर देना प्राणायाम है' (यो० सू० २।४९)।

(२२. वायुतत्त्व का निरूपण)

स च वायुः सूर्योदयमारभ्य सार्धघटिकाद्वयं घटीयन्त्रस्थित-

घटभ्रमणन्यायेन एकैकस्यां नाड्यां भवति। एवं सत्यहर्निशं श्वासप्रश्वासयोः षट्शताधिकैकविंशतिसहस्राणि जायन्ते। अत एवोक्तं मन्त्रसमर्पणरहस्यवेदिभिरजपामन्त्रसमर्पणे—

४०. षट्शतानि गणेशाय षट्सहस्रं स्वयंभुवे।
विष्णवे षट्सहस्रं च षट्सहस्रं पिनाकिने॥
४१. सहस्रमेकं गुरवे सहस्रं परमात्मने।
सहस्रमात्मने चैवमर्पयामि कृतं जपम्॥ इति।

जिस प्रकार घटीयंत्र (रँहट) में घट (लोहे की बालटियाँ) घूमते हैं उसी तरह वह वायु भी सूर्योदय से आरंभ करके ढाई-ढाई घड़ी (ढाई घड़ी=१ घंटा) तक प्रत्येक नाड़ी (इडा, पिंगला) में रहती है। [प्राणियों की दाहिनी नाड़ी (दाहिनी नासिका की साँस) **पिंगला** कहलाती है, बायीं नाड़ी इड़ा है। दोनों के बीच में **सुषुम्णा** बहती है। वायु-संचार २½ घड़ी (= १ घंटे) तक पिंगला के द्वारा होता है, फिर २½ घड़ी इड़ा के द्वारा वायु चलती है, फिर पिंगला और इड़ा—यही क्रम है।]

इस प्रकार वायु के चलने से दिन-रात में इक्कीस हजार छह सौ (२१६००) श्वास-प्रश्वास होते हैं। [दिन-रात में ६० घड़ियाँ (घटी या दण्ड) होती हैं। एक घटी में ६० पल होते हैं (= दिनरात में ६० × ६० = ३६०० पल)। एक पल में ६ बार श्वास-प्रश्वास लेते हैं अतः दिन-रात में ३६०० × ६=२१६०० बार श्वास-प्रश्वास होता है।]

इसीलिए मन्त्र-समर्पण का रहस्य जाननेवाले लोग **अजपामंत्र*** के समर्पण के विषय में कहते हैं—'मैं इस किये हुए जप में से ६०० मन्त्र गणेश को, ६००० ब्रह्मा को, ६००० विष्णु को, ६००० शिव को, १००० गुरु को, १००० परमात्मा को तथा १००० आत्मा को अर्पित कर रहा हूँ॥ ४०-४१॥'

तथा नाडीसंचारणदशायां वायोः संचरणे पृथिव्यादीनि

* श्वास-प्रश्वास के रूप में स्वभावतः जपा जाने वाला मन्त्र अजपामन्त्र है। दूसरे मन्त्रों की तरह इसे जपते नहीं इसलिए इसे अजपा कहते हैं। श्वास और प्रश्वास में हंसः की मन्त्र-भावना की जाती है। स्वभावतः इसे २१६०० बार प्रतिदिन जपते हैं। इसे ही उलटने पर 'सोऽहम्' कहते हैं। इस जप का विभाजन करके गणेशादि देवताओं को अर्पण करते हैं।

तत्त्वानि वर्णविशेषवशात्पुरुषार्थाभिलाषुकैः पुरुषैरवगन्तव्यानि। तदुक्तमभियुक्तैः—

४२. सार्धं घटीद्वयं नाड्योरेकैकार्कोदयाद्वहेत्।
अरघट्टघटीभ्रान्तिन्यायो नाड्योः पुनः पुनः॥
४३. शतानि तत्र जायन्ते निश्वासोच्छ्वासयोर्नव।
खखषट्कद्विकैः संख्याहोरात्रे सकले पुनः॥

[जिस प्रकार वायु की स्वाभाविक गति के कारण प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में 'हंसः' मन्त्र की भावना से अजपाजप की सिद्धि होती है] उसी प्रकार वायु के संचार से नाड़ियों का संचारण होने के समय, पुरुषार्थ की अभिलाषा करने वाले पुरुषों को, [पीत आदि] विशिष्ट वर्णों से [युक्त बिन्दुओं के द्वारा], पृथिवी आदि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। [पृथिवी आदि तत्त्व पुरुषार्थ हैं। इनका ज्ञान आन्तर दृष्टि से हो सकता है। शरीर में कुछ बिन्दु हैं जिनके वर्णों की कल्पना की गई है— उन्हीं से ये तत्त्व भली-भाँति ज्ञात होते हैं।]

इसे प्रामाणिक व्यक्तियों ने कहा है—'[इड़ा और पिंगला] इन दोनों नाड़ियों में प्रत्येक नाड़ी से सूर्योदय से आरंभ करके ढाई-ढाई घटियों तक [प्राणवायु का] वहन होता है। अरघट्ट-घटी (कुएँ के रहँट) के भ्रमण की तरह ये दोनों नाड़ियाँ बार-बार [वहती हैं।] इस क्रिया से ढाई घटी में ९०० निश्वास और उच्छ्वास होते हैं। पूरे दिन-रात में तो २१६०० (ख=०, ख = ०, षट् = ६, क = १, द्वि = २, 'अङ्कस्य वामा गतिः' से उलटने पर २१६००) संख्या हो जाती है॥ ४२–४३॥'

४४. षट्त्रिंशद्गुरुवर्णानां या वेला भणने भवेत्।
सा वेला मरुतो नाड्यन्तरे संचरतो भवेत्॥
४५. प्रत्येकं पञ्च तत्त्वानि नाड्योश्च वहमानयोः।
वहन्त्यहर्निशं तानि ज्ञातव्यानि यतात्मभिः॥
४६. ऊर्ध्वं वह्निरधस्तोयं तिरश्चीनः समीरणः।
भूमिर्मध्यपुटे व्योम सर्वगं प्रवहेत्पुनः॥
४७. वायोर्वह्नेरपां पृथ्व्या व्योम्नस्तत्त्वं वहेत्क्रमात्।
वहन्त्योरुभयोर्नाड्योर्ज्ञातव्योऽयं क्रमः सदा॥

छत्तीस दीर्घ वर्णों (आ, ई, ऊ जैसे वर्ण) के उच्चारण में जितना समय लगता है उतना ही समय वायु को नाड़ी में घूमने में लगता है। [इसे ही प्राण भी कहते हैं। ६ प्राण=१ पल। ६० पल = १ घटी। एक घटी में ३६० श्वासोच्छ्वास या प्राण होते हैं।] ॥ ४४ ॥ इन बहने वाली नाड़ियों में प्रत्येक के पाँच तत्त्व होते हैं जो दिन-रात बहते रहते हैं, इन्हें योगी ही जान सकते हैं ॥ ४५ ॥ [ये नाड़ियाँ अपने अन्तर में स्थित सूक्ष्म पृथिवी आदि तत्त्वों में से किसी एक के अंश से ही चलती हैं। जब जो तत्त्व बहता है तब कहते हैं कि उस अमुक तत्त्व से नाड़ी चल रही है। इसे योग से ही जान सकते हैं। अब नाड़ियों में बहने वाले पाँचों तत्त्वों का स्थान बतलाते हैं—] अग्नि-तत्त्व ऊपर बहता है, जल-तत्त्व नीचे की ओर; वायु-तत्त्व तिरछा बहता है, पृथिवी-तत्त्व मध्य पुट (कोष्ठ) में तथा आकाशतत्त्व चारों तरफ बहता है ॥ ४६ ॥ [अब इनके बहने का क्रम बतलाते हैं—] दोनों बहनेवाली नाड़ियों का यह क्रम सदा जानना चाहिए कि क्रमशः वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और आकाश के तत्त्व बहते हैं ॥ ४७ ॥

४८. पृथ्व्याः पलानि पंचाशच्चत्वारिंशत्तथाम्भसः ।
अग्नेस्त्रिंशत्पुनर्वायोर्विंशतिर्नभसो दश ॥
४९. प्रवाहकालसंख्येयं हेतुस्तत्र प्रदर्श्यते ।
पृथ्वी पञ्चगुणा तोयं चतुर्गुणमथानलः ॥
५०. त्रिगुणो द्विगुणो वायुर्वियदेकगुणं भवेत् ।
गुणं प्रति दश पलान्युर्व्यां पञ्चाशदित्यतः ॥
५१. एकैकहानिस्तोयादेस्तथा पञ्च गुणाः क्षितेः ।
गन्धो रसश्च रूपं च स्पर्शः शब्दः क्रमादमी ॥

पृथ्वी-तत्त्व पचास पलों तक बहता है, जल-तत्त्व चालीस पलों तक, अग्नि-तत्त्व तीस पलों तक, वायु-तत्त्व बीस पलों तक तथा आकाश-तत्त्व दस पलों तक बहता है। [इनके बहने का क्रम पहले के जैसा ही है—पहले वायु-तत्त्व, फिर अग्नितत्त्व आदि।]* ॥ ४८ ॥ प्रवाह के काल (समय) की संख्या (परिमाण) इस तरह बतलाई गई है। अब इसका कारण बतलावें—पृथ्वी पाँच गुणों की है, जल चार गुणों का है; अग्नि के तीन गुण, वायु के दो गुण और

* कुल मिलाकर १५० पल होते हैं अर्थात् ये पाँचों तत्त्व १-१ घंटे के क्रम से आते हैं (२॥ घड़ी)।

आकाश में केवल एक गुण ही है। [देखिए—इसी ग्रन्थ का सांख्यदर्शन—'तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यः पूर्वपूर्वसूक्ष्मभूतसहितेभ्यः पञ्च महाभूतानि वियदादीनि क्रमेणैकद्वित्रिचतुष्पंचगुणानि जायन्ते। (पृ० ६२७)।]

प्रत्येक गुण में दस पल होते हैं—इसलिए पृथ्वी में पचास पल माने गये हैं। ॥ ५० ॥ इसके बाद जलादि से एक-एक गुण की कमी होती जाती है। पृथ्वी के पाँच गुणों में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं। इनमें भी क्रमशः [एक एक घटते जाते है—जल में गन्ध नहीं (४ गुण), अग्नि में गन्ध और रस नहीं (३ गुण), वायु में गन्ध, रस और रूप नहीं (२ गुण) तथा आकाश में केवल शब्द गुण ही है।] ॥ ५१ ॥

५२. तत्त्वाभ्यां भूजलाभ्यां स्याच्छान्तिः कार्ये फलोन्नतिः।
दीप्तास्थिराव्यूहवृत्तिस्तेजोवाय्वम्बरेषु च॥
५३. पृथ्व्यप्तेजोमरुद्व्योमतत्त्वानां चिह्नमुच्यते।
आद्ये स्थैर्यं स्वचित्तस्य शैत्ये कामोद्भवो भवेत्॥
५४. तृतीये कोपसंतापौ चतुर्थे चञ्चलात्मता।
पञ्चमे शून्यतैव स्यादथ वाधर्मवासना॥
५५. श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुल्यौ नासापुटद्वये।
सृक्किण्योः प्रान्त्यकोपान्त्याङ्गुली शेपे दृगन्तयोः॥

पृथ्वीतत्त्व तथा जलतत्त्व से (इनके बहने पर) क्रमशः शान्ति और [आरम्भ किये गये] कार्य में फल की अधिकता मिलती है। अग्नितत्त्व के बहने पर [चित्तवृत्ति] दीप्त होती है, वायुतत्त्व में अस्थिरता और आकाशतत्त्व के बहने पर चित्तवृत्ति अव्यूह (वियोग) के रूप में हो जाती है ॥ ५२ ॥ अब हम पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और आकाशतत्त्व के चिह्न कहते हैं—प्रथम (पृथ्वी) तत्त्व में चित्त की स्थिरता मालूम पड़ती है। दूसरे (जल) तत्त्व की शीतलता के कारण इच्छायें उत्पन्न होती हैं ॥ ५३ ॥ तीसरे तत्त्व में क्रोध संताप उत्पन्न होते हैं, चौथे (वायु) में चंचलता का अनुभव होता है। पाँचवें (आकाश) तत्त्व में या तो शून्यता या अधर्म की भावना उत्पन्न होती है ॥ ५४ ॥

[अब एक विशिष्ट मुद्रा के द्वारा शून्य को देखने की विधि का निरूपण करते हैं—] दोनों कानों के छेदों को अँगूठों से बंद कर दें, मध्यमा अँगुलियों को नासिका के छेदों पर रख दें, दोनों ओष्ठों पर कनिष्ठा (प्रान्त्यक) और

अनामिका (उपान्त्य) अँगुलियों को रख दें तथा बाकी बची हुई (तर्जनी) अँगुलियों को आँखों पर रख दें ॥ ५५ ॥

५६. न्यस्यान्तःस्थपृथिव्यादितत्त्वज्ञानं भवेत्क्रमात् ।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्बिन्दुभिर्निरुपाधि खम् ॥ इत्यादिना ।

यथावद्वायुतत्त्वमवगम्य तन्नियमने विधीयमाने विवेकज्ञानावरणकर्मक्षयो भवति । तपो न परं प्राणायामादिति ।

५७. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
प्राणायामैस्तु दह्यन्ते तद्वदिन्द्रियजा मलाः ॥ इति च ।

'[उपर्युक्त विधि से अँगुलियों को] रखकर अन्तर में स्थित पृथिवी आदि तत्त्वों का ज्ञान क्रमशः होता है। इसके बाद पीत, श्वेत, अरुण, तथा श्याम बिन्दुओं से उपाधिहीन आकाश-तत्त्व का दर्शन होता है। [दोनों हाथों की अँगुलियों से बाहरी द्वारों को बंद करके अन्तर्दृष्टि से देखने पर बिन्दु दिखाई पड़ता है। पीतवर्ण का बिन्दु दिखलाई पड़ने पर समझें कि पृथ्वीतत्त्व बह रहा है। श्वेत बिन्दु दिखलाई पड़ने पर जलतत्त्व, अरुण बिन्दु होने पर अग्नि-तत्त्व तथा श्याम बिन्दु होने पर वायुतत्त्व समझें। किसी भी वर्ण से रहित केवल घेरा भर दिखलाई दे तो आकाश तत्त्व समझें। इसीलिए आकाश को उपाधिहीन अर्थात् वर्णरहित कहा गया है] ॥ ५६ ॥'

उक्त रीति से वायुतत्त्व को यथार्थरूप में जानकर, उसे नियंत्रित करने की जो विधियाँ बतलाई गई हैं [उनके द्वारा = प्राणायाम से वायु का निरोध करने से] विवेकज्ञान को आवृत करने वाले कर्मों का नाश हो जाता है। [कर्म = कर्म से उत्पन्न पुण्य तथा कर्म के कारणरूप अविद्या आदि क्लेश। ये क्लेश महामोह से भरे हुए शब्दादि विषयों की सहायता से विवेकज्ञान स्वभाव वाले बुद्धि-तत्त्व को आच्छादित कर देते हैं। इसीसे संसार में आने-जाने का सिलसिला चलता है। बुद्धि सांसारिक व्यापार में लगी रहती है। प्राणायाम का अभ्यास करने से ये क्लेश दुर्बल हो जाते हैं तथा अपना कार्य नहीं कर सकते—क्षण-क्षण क्षीण होते जाते हैं। इसलिए प्राणायाम को तप कहा गया है। यही नहीं, चान्द्रायण आदि तपों से तो पापकर्म ही क्षीण होता है। प्राणायाम से उनके मूल क्लेशों का भी नाश हो जाता है। इसलिए] प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है।

'जिस प्रकार आग में जलाये जानेवाले धातुओं (सोना, चाँदी आदि) का

मल जल जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले मल नष्ट हो जाते हैं ॥ ५७ ॥'

(२३. प्रत्याहार का निरूपण)

तदेवं यमादिभिः संस्कृतमनस्कस्य योगिनः संयमाय प्रत्याहारः कर्तव्यः । चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रतिनियतरञ्जनीयकोपनीयमोहनीयप्रवणत्वप्रहाणेन अविकृतस्वरूपप्रवणचित्तानुकारः प्रत्याहारः । इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेः ।

इस प्रकार यमादि के द्वारा अपने अन्तःकरण को पवित्र करके योगी को संयम के लिए प्रत्याहार का प्रयोग करना चाहिए। [योग के आठ अङ्गों में अन्तिम तीनों अन्तरङ्ग साधन हैं। उन्हें संयम भी कहते हैं। संयम की सिद्धि प्रत्याहार के बिना नहीं होती। इसलिए प्रत्याहार की सिद्धि पहले करें।] चक्षु आदि इन्द्रियों की अपने-अपने साथ निश्चित रागोत्पादक, कोपोत्पादक तथा मोहोत्पादक विषयों में जो आसक्ति (प्रवणत्व) होती है उसका नाश करके, निर्विकार आत्मा के स्वरूप में लीन चित्त का अनुकरण [यदि इन्द्रियाँ करने लगें तो वह] प्रत्याहार कहलाता है। [इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ निश्चित रहती हैं। कुछ विषय किसी के लिए रंजनीय या रागोत्पादक होते हैं, कुछ कोपोत्पादक और कुछ मोहप्रद हैं। इन विषयों में इन्द्रियाँ आसक्त रहती हैं। बद्ध-जीवों में इन्द्रियाँ विषयों के अनुरोध से चलती हैं और चित्त इन्द्रियों के अनुरोध से चलता है। प्रत्याहार में इन्द्रियाँ ही चित्त के अनुरोध से चलने लगती हैं। चित्त जब निरोध की ओर लगा दिया जाता है तो बिना किसी विशेष प्रयत्न के ही इन्द्रियों का निरोध हो जाता है। यही चित्त का अनुकरण या प्रत्याहार कहलाता है।] इसकी व्युत्पत्ति है कि इसमें इन्द्रियाँ विषयों के विरुद्ध (प्रतीप) खींच ली जाती हैं (आ + हृ)। [प्रति = प्रतीप, आ + √हृ।]

ननु तदा चित्तमभिनिविशते नेन्द्रियाणि । तेषां बाह्यविषयत्वेन सामर्थ्याभावात् । अतः कथं चित्तानुकारः । अद्धा । अत एव वस्तुतस्तस्यासंभवमभिसंधाय सादृश्यार्थमिवशब्दं चकार सूत्रकारः—'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (पात० यो० सू० २।५४) इति । सादृश्यं च चित्तानुकारनिमित्तं विषयासंप्रयोगः ।

अब एक शंका होती है कि उस दशा में तो [निर्विकार आत्मा के स्वरूप में] चित्त ही प्रवेश करता है, इन्द्रियाँ नहीं, क्योंकि इन्द्रियों का विषय बाह्य-जगत् से संबद्ध है. अतः आत्मा में उनकी सामर्थ्य (शक्ति, अधिकार) नहीं हो सकती। फिर वे चित्त की प्रकृति में अपने को कैसे मिला सकेंगी ? ठीक कहते हैं। इसीलिए तो वास्तव में उसकी असंभावना की संभावना करके सूत्रकार ने सादृश्यार्थक 'इव' शब्द का प्रयोग किया है [जिससे यह प्रकट होता है कि इन्द्रियाँ चित्त की प्रकृति में अपने को मिला नहीं लेतीं प्रत्युत चित्त में मिलाने पर जैसी दशा हो सकती है वैसी बन जाती हैं]—'इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ संबन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण-जैसा करना प्रत्याहार है' (यो० सू० २।५४)। [जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को नहीं जीत सका है, बद्ध है, उसको इन्द्रियाँ भी विषयोपभोग के समय चित्त का अनुकरण करती हैं—उसमें अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'स्वविषयासंप्रयोगे' का प्रयोग किया गया है।]

[जब दो वस्तुओं में तुलना होती है तब किसी धर्म के आधार पर ही। अतः यहाँ भी कुछ सादृश्य-धर्म होना चाहिए।] अपने विषयों से सबन्ध न होना ही यहाँ पर सादृश्य-धर्म है। उसके कारण चित्त का अनुकरण (उसकी प्रकृति में अपने को मिलाना) होता है।

यदा चित्तं निरुध्यते तदा चक्षुरादीनां निरोधे प्रयत्नान्तरं नापेक्षणीयम्। यथा मधुकरराजं मधुमक्षिका अनुवर्तन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तमिति। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

**५८. शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥
५९. वश्यता परमा तेन जायतेऽतिचलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः॥
(वि० पु० ६।७।४३-४४) इति।**

जब चित्त (मूल) ही निरुद्ध हो जाता है तब चक्षु आदि इन्द्रियों के निरोध के लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे मधुकर-पति के पीछे-पीछे मधुमक्खियाँ चलती हैं उसी तरह चित्त के पीछे-पीछे इन्द्रियाँ चलती हैं। इसे विष्णुपुराण में कहा है—'योगी शब्दादि विषयों में अनुरक्त इन्द्रियों (अक्ष = इन्द्रिय) का निग्रह करके, प्रत्याहार में निरत होकर, उन्हें चित्त की अनुकारी (चित्त के स्वभाव में अपने को मिला देनेवाली) बना दें ॥५८॥

अत्यन्त चंचल स्वरूप वाली इन्द्रियों का भी इसके बाद परम वशीकरण हो जाता है। [तुलनीय—'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' (यो० सू० २।५५)।] यदि ये इन्द्रियाँ वश में नहीं हो सकीं तो उनसे योगी योग का साधक नहीं बन सकता ॥ ५९ ॥' (विष्णुपुराण-६।७।४३-४४)।

(२३ क. धारणा और ध्यान)

नाभिचक्रहृदयपुण्डरीकनासाग्रादावाध्यात्मिके हिरण्यगर्भवासवप्रजापतिप्रभृतिके बाह्ये वा देशे चित्तस्य विषयान्तरपरिहारेण स्थिरीकरणं धारणा। तदाह—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (पा० यो० सू० ३।१) इति। पौराणिकाश्च—

६०. प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये ॥
(वि० पु० ६।७।४५) इति।

'नाभिचक्र, हृदय-कमल, नासिका का अग्रभाग आदि शरीर के भीतर के (आध्यात्मिक) स्थानों में अथवा हिरण्यगर्भ (विष्णु), इन्द्र, प्रजापति आदि [की मूर्तियों में अर्थात्] बाह्य स्थानों में अपने चित्त को, दूसरे विषयों से उसे बचाते हुए, दृढ (स्थिर) कर देना धारणा है। इसे कहा है—'चित्त को एक स्थान पर दृढ़ करना धारणा है' (यो० सू० ३।१)। पौराणिक लोग भी कहते हैं—'प्राणायाम के द्वारा वायु को और प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने के बाद किसी अच्छे आधार (नाभि आदि) में चित्त को स्थिर करना चाहिए।' (विष्णुपुराण, ६।७।४५)।*

तस्मिन्देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्य विसदृशप्रत्ययप्रहाणेन प्रवाहो ध्यानम्। तदुक्तं—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (पात० यो० सू० ३।२) इति। अन्यैरप्युक्तम्—

६१. तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्या संततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥
(वि० पु० ६।७।८९) इति।

प्रसङ्गाच्चरमङ्गं प्रागेव प्रत्यपीपदाम।

---

* तुल०—हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम् ॥

उक्त स्थानों में विद्यमान ध्येय (प्रसन्नमुख, चतुर्भुज विष्णु आदि) के आकार में परिणत ज्ञान (प्रत्यय) का, असदृश ज्ञानों का त्याग पूर्वक, प्रवाहित होना ध्यान है। [स्मरणीय है कि प्रत्याहार में चित्त का स्थिरीकरण होता है और ध्यान में स्थिर किये गये चित्त को उसी दिशा में प्रवाहित होने दिया जाता है।] इसे कहा गया है—'उसमें (धारण होने पर) ज्ञान का एक प्रकार का बना रहना ध्यान है' (यो० सू० ३।२)।

दूसरों ने भी कहा है—'उस (ध्येय) के रूप के ज्ञान में एक ही तरह से रहने वाला तथा दूसरे विषयों के व्यवधान से रहित [ज्ञान का] प्रवाह ध्यान है। हे राजन् ! वह प्रथम छह अंगों के द्वारा निष्पन्न होता है।' (वि० पु० ६।७।८९) [यह वाक्य खाण्डिक्य नामक राजा को कहा गया है।]

अन्तिम अंग (समाधि) को तो प्रसंगवश हम लोगों ने पहले ही ('योगानुशासन' के निर्वचन-क्रम में) प्रतिपादित कर दिया है (देखिये, पृष्ठ ६७३)।

विशेष—यहाँ अष्टांग योग का विवरण समाप्त हो रहा है। अब इन अंगों के प्रयोग से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन करके कैवल्य (मोक्ष) रूपी परम पुरुषार्थ का निरूपण होगा।

(२४. योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ)

तदनेन योगाङ्गानुष्ठानेनादरनैरन्तर्यदीर्घकालसेवितेन समाधिप्रतिपक्षक्लेशप्रक्षयेऽभ्यासवैराग्यवशान्मधुमत्यादिसिद्धिलाभो भवति।

अथ किमेवमकस्मादस्मानतिविकटाभिरत्यन्ताप्रसिद्धाभिः कर्णाटगौडलाटभाषाभिर्भीषयते भवान् ? न हि वयं भवन्तं भीषयामहे। किं तु मधुमत्यादिपदार्थव्युत्पादनेन तोषयामः। ततश्चाकुतोभयेन भवता श्रूयतामवधानेन।

तो, योग के अंगों के इस प्रकार अनुष्ठान से—जिसका सेवन या पालन आदरपूर्वक (श्रद्धा सहित), व्यवधान-रहित तथा दीर्घकाल तक किया गया हो—समाधि के विरोधी क्लेशों का नाश हो जाने पर; अभ्यास और वैराग्य के बल से, मधुमती आदि सिद्धियों का लाभ होता है।

[इन मधुमती आदि नये शब्दों को सुन कर कोई पूछता है—] हम लोगों को इन विकट (भयप्रद) और अत्यन्त अप्रसिद्ध कर्णाटक (उत्कल का दक्षिणी भाग), गौड़ (बंगाल का पूर्वी भाग) तथा लाट (गुजरात का एक भाग) की

भाषाओं से आप अकस्मात् डराने क्यों लगे ? [हमारा उत्तर यह है—] हम आपको डरा नहीं रहे हैं। बल्कि मधुमती आदि शब्दों के अर्थ की व्युत्पत्ति (विश्लेषण) करके आपको संतुष्ट ही कर रहे हैं। सो, आप निर्भय होकर ध्यान से सुनें।

(२४ क. मधुमती-सिद्धि)

तत्र मधुमती नामाभ्यासवैराग्यादिवशादपास्तरजस्तमोलेश-सुखप्रकाशमयसत्त्वभावनया अनवद्यवैशारद्यविद्योतनरूपऋतंभर-प्रज्ञाख्या समाधिसिद्धिः। तदुक्तम्—'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' (पात० यो० सू० १।४८)। ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाच्छाद्यते। तत्र स्थितौ दार्ढ्ये सति द्वितीयस्य योगिनः सा प्रज्ञा भवतीत्यर्थः।

उनमें मधुमती वह समाधि-सिद्धि है जिसमें अभ्यास और वैराग्य आदि के कारण रजस् और तमस् का लेश (थोड़ा अंश) भी न बचा हो, तथा सुखमय और प्रकाशमय सत्त्व (बुद्धिसत्त्व) की भावना (ज्ञान) से स्वच्छ स्थितिप्रवाह (अनवद्य वैशारद्य) प्रकाशित होता है जिसे दूसरे शब्दों में **ऋतंभरा** प्रज्ञा भी कहते हैं। कहा गया है—'उस अवस्था में ऋतंभरा (सत्य का भरण करने वाली) प्रज्ञा (ज्ञान) रहता है' (यो० सू० १।४८)। ऋत अर्थात् सत्य का जो भरण-पोषण करे, कभी भी विपर्यय (विरोधी) ज्ञान से आच्छादित न हो सके। उस अवस्था में (तत्र) = स्थिति में स्थिरता आ जाने पर, द्वितीय प्रकार के योगी (मधुभूमिक) लोगों की यह प्रज्ञा होती है। यही अर्थ है। [ऋतंभरा प्रज्ञा मधुभूमिक योगियों को प्राप्त होती है।]

चत्वारः खलु योगिनः प्रसिद्धाः प्राथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति। तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्र-ज्योतिः प्रथमः। न त्वनेन परचित्तादिगोचरज्ञानरूपं ज्योतिर्वशी-कृतमित्युक्तं भवति। ऋतंभरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। परवैराग्यसंपन्नश्चतुर्थः।

योगियों के चार भेद प्रसिद्ध हैं—(१) प्राथमकल्पिक, (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञाज्योति और (४) अतिक्रान्तभावनीय। उनमें प्रथम अर्थात् **प्राथम-कल्पिक** योगी वह है जो अभ्यास में लगा हो तथा जिसका ज्ञान अभी केवल

प्रवृत्त हुआ है (परिपक्व नहीं—ज्ञान वश में नहीं हुआ है अतः वह दूसरों के चित्त का ज्ञान नहीं पा सकता)। कहना यह है कि उस योगी ने दूसरों के चित्त आदि में संचरित ज्ञान रूपी ज्योति को वश में नहीं किया है। द्वितीय अर्थात् **मधुभूमिक** योगी वह है जिसकी प्रज्ञा ऋतंभरा है। [इसने जीवों तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की है परन्तु जीतने की इच्छा करता है—इसे ही मधुमती नाम की योगसिद्धि कहते हैं।] तृतीय अर्थात् प्रज्ञाज्योति योगी वह है जिसने सभी भूतों (Beings) तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है। अन्त में **अतिक्रान्तभावनीय** योगी उसे कहते हैं जो परम वैराग्य से युक्त है। [यह योगी सभी प्रकार की भावनायें किये हुए है—अब इसके लिए कोई चीज भावनीय (ज्ञेय) नहीं। यह जीवन्मुक्त है। जो सभी भावनीय पदार्थों की सीमा पार कर चुका है वह अतिक्रान्तभावनीय है।]

(२४ ख. अन्य सिद्धियाँ—मधुप्रतीका, विशोका, संस्कारशेषा)

मनोजवित्वादयो मधुप्रतीकसिद्धयः। तदुक्तं—'मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च' (पात० यो० सू० ३।४८) इति। मनोजवित्वं नाम कायस्य मनोवदनुत्तमो गतिलाभः। विकरणभावः कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणामभिमतदेशकालविषयापेक्षवृत्तिलाभः। प्रधानजयः प्रकृतिविकारेषु सर्वेषु वशित्वम्।

एताश्च सिद्धयः करणपञ्चकरूपजयात्तृतीयस्य योगिनः प्रादुर्भवन्ति। यथा मधुनः एकदेशोऽपि स्वदते तथा प्रत्येकमेव ताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः।

मधुप्रतीका सिद्धि - मन के समान वेगवान् (मनोजवी) हो जाना आदि सिद्धियाँ मधुप्रतीक के अन्तर्गत हैं। इन्हें कहा गया है—'मन के समान वेगवान् होना, इन्द्रियों से रहित हो जाना तथा प्रकृति पर विजय पाना' (यो० सू० ३।४८)। मन के समान वेगवान् होने का अर्थ है शरीर का मन की तरह अत्युत्तम (न उत्तमः यस्मात्) गति को प्राप्त करना। विकरण-भाव का अर्थ है शरीर की अपेक्षा रखे ही बिना इन्द्रियों का अभीष्ट देश और काल में स्थित विषयों से सम्बन्ध-ज्ञान पा लेना। प्रधानजय का अर्थ है प्रकृति के जितने विकार संसार में हैं उन सबों को वश में कर लेना।

ये सिद्धियाँ [पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच ग्रहण आदि] रूपों की विजय कर लेने से तृतीय कोटि के योगी (प्रज्ञाज्योति) में प्रादुर्भूत होती हैं। [इन्द्रियों के पाँच

रूप हैं—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व। निश्चय, अभिमान, संकल्प, दर्शन, श्रवण आदि वृत्तियाँ ग्रहण के अन्तर्गत हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ स्वरूप हैं। बुद्धि और अहंकार को अस्मिता कहते हैं। कारण का ज्ञान करना अन्वय है जैसे घट में मिट्टी का। इन्द्रियों की प्रकृति के रूप में जो गुण हैं उनमें पुरुषार्थ-सिद्धि की जो शक्ति है वही अर्थवत्त्व है। इन्द्रियों के इन रूपों की विजय प्राप्त कर लेने से ही प्रकृति आदि पर विजय होती है। केवल इन्द्रियों की विजय से प्रकृति आदि पर अधिकार नहीं हो सकता।] जैसे मधु का कोई भी भाग स्वाद में अच्छा होता है उसी प्रकार इन सिद्धियों में प्रत्येक का स्वाद अच्छा ही होता है—इसीलिए इन्हें मधुप्रतीक (Symbol of honey) कहा गया है।

सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपा विशोका सिद्धिः। तदाह— 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च' (पात० यो० सू० ३।४९) इति। सर्वेषां व्यवसायाव्यवसायात्मकानां गुणपरिणामरूपाणां भावानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्। तेषामेव शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वम्। तदुक्तं—'विशोका वा ज्योतिष्मती' (पात० यो० सू० १।३६) इति।

विशोका सिद्धि—सभी भावों (सत् पदार्थों) का स्वामी बन जाना आदि के रूप में प्राप्त योगसिद्धि विशोका है। इसे कहा है—'केवल चित्त और पुरुष का भेद जानने से ही सभी भावों पर आधिपत्य और सर्वज्ञता भी प्राप्त होती है' (यो० सू० ३।४९)। व्यवसायात्मक (प्रकाशात्मक भाव अर्थात् इन्द्रियाँ और अव्यसायात्मक (जड पदार्थ—इन्द्रियों के विषय शब्दादि, उनके आश्रय पृथिवी आदि) भाव जो तीनों गुणों के परिणाम (विकार) हैं उनके ऊपर स्वामी के समान अधिकार रखना (आक्रमण) 'सभी भावों का आधिपत्य' कहलाता है। इन्हीं भावों का, जो शान्त (भूत), उदित (वर्तमान) और अव्यपदेश्य (भविष्यत्) धर्मों से युक्त होकर अवस्थित हैं, विवेक ज्ञान होना सर्वज्ञता है। [उपर्युक्त भावों में शान्त आदि धर्म रहते हैं, यदि उन भावों का ज्ञान धर्म से भिन्न रूप में हो गया तो 'सर्वज्ञता' मिल गई। कुछ धर्म शान्त हैं अर्थात् अपना व्यापार करके अतीत के क्षेत्र में चले गये हैं। कुछ धर्मों का व्यापार अभी चल रहा है ये उदित हैं। कुछ धर्म ऐसे हैं जिनका व्यापार अभी आरम्भ नहीं हुआ है, शक्ति के रूप में जो अवस्थित हैं, जिनके विषय में कुछ भी कहना—उनका नाम (व्यपदेश) लेना भी सम्भव नहीं है। इन तीनों

धर्मों से धर्मी का भेद करके ज्ञान पाना विवेकज्ञान है। तात्पर्य यह है कि सभी वस्तुओं और उनके धर्मों का अलग-अलग ज्ञान पाना 'सर्वज्ञता' है।]

उसे कहा है—'अथवा शोक से रहित ज्योतिष्मती (योगज साक्षात्कार के रूप में अन्तःकरण की वृत्ति) [मन में स्थिरता उत्पन्न करती है'—यो० सू० १।३६]। (यह सिद्धि अतिक्रान्तभावनीय नामक चतुर्थ योगी को प्राप्त होती है।)

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये परं वैराग्यमाश्रितस्य जात्यादिबीजानां क्लेशानां निरोधसमर्थो निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातपदवेदनीयः संकारशेषताव्यपदेश्यश्चित्तस्यावस्थाविशेषः। तदुक्तं—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (पात० यो० सू० १।१८) इति। एवं च सर्वतो विरज्यमानस्य तस्य पुरुषधौरेयस्य क्लेशबीजानि निर्दग्धशालिबीजकल्पानि प्रसवसामर्थ्यविधुराणि मनसा सार्धं प्रत्यस्तं गच्छन्ति।

सभी वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर, जो योगी परम वैराग्य से युक्त हो गया है उसे बीज (वस्तु-ज्ञान) से रहित समाधि मिलती है जो जाति [आयु, भोग के] बीज के रूप में विद्यमान क्लेशों को रोकने में समर्थ है। इस समाधि को 'असंप्रज्ञात' शब्द के द्वारा भी जानते हैं और यह **'संस्कारशेषता'** के नाम से पुकारी जाने वाली चित्त की एक अवस्था है। [असंप्रज्ञात समाधि का लक्षण करते हुए] यह कहा गया है—'विराम-प्रत्यय का अभ्यास करने के बाद [जब ऐसा वृत्ति-निरोध हो कि केवल] संस्कार ही शेष रह जाय तब उसे असंप्रज्ञात (संप्रज्ञात से भिन्न, दूसरा) समाधि कहते हैं।' (यो० सू० १।१८) [तत्त्वज्ञान की जहाँ पर सीमा हो, वह विराम-प्रत्यय है। ज्ञान में एक अलंबुद्धि उत्पन्न होती है कि अब वृत्ति का विराम हो जाय। इस अवस्था में वृत्ति का संस्कार शेष रहता है जिससे वह फिर से उठ सके। वृत्ति स्वयं नहीं रहती। मोक्ष की दशा में तो चित्त का अत्यन्त ही विलयन हो जाता है।]

इस प्रकार जो पुरुष श्रेष्ठ (योगी) सभी तरफ से विरक्त हो जाता है उसके बीज जले हुए धान के बीजों की तरह हो जाते हैं, वे पुनः उत्पादन की शक्ति से रहित होकर मन (चित्त) के साथ ही साथ समाप्त हो जाते हैं। [चित्त की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, उनके साथ ही क्लेश के बीज भी।]

(२५. कैवल्य की प्राप्ति—प्रकृति और पुरुष को)

तदेतेषु प्रलीनेषु निरुपप्लवविवेकख्यातिपरिपाकवशात् कार्य-

कारणात्मकानां प्रधाने लयः, चितिशक्तिः स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वाभिसंबन्धविधुरा वा कैवल्यं लभत इति सिद्धम् । द्वयी च मुक्तिरुक्ता पतञ्जलिना—'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः' (पात० यो० सू० ४।३४) इति । न चास्मिन्सत्यपि कस्मान्न जायते जन्तुरिति वदितव्यम् । कारणाभावात्कार्याभाव इति प्रमाणसिद्धार्थे नियोगानुयोगयोरयोगात् ।

तो, इन सबों के (क्लेशबीज कर्माशयों के) प्रलीन हो जाने पर (अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाने पर), उपद्रवों से रहित [प्रकृति-पुरुष में] भेदज्ञान के परिपाक के कारण, कार्य और कारण के रूप में विद्यमान सभी पदार्थों का प्रकृति में लय हो जाने से [प्रकृति को कैवल्य मिलता है ।] इसके अतिरिक्त, चितिशक्ति (आत्मा) जब अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है तथा फिर से बुद्धितत्त्व के साथ संबन्ध नहीं हो पाता तो उसे (पुरुष को) भी कैवल्य मिलता है, यह सिद्ध हुआ ।

पतंजलि ने दोनों प्रकार की मुक्तियों का वर्णन किया है—'पुरुषार्थ से शून्य हो गये गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना (प्रतिप्रसव = जहाँ से आये वहीं चला जाना) अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है ।' (यो० सू० ४।३४) । [गुणों की प्रवृत्ति पुरुषों के भोग या अपवर्ग के लिए होती है जो पुरुषार्थ हैं । इन्हीं पुरुषार्थों के लिए सत्त्वादि गुण विभिन्न रूपों में परिणत होते हैं । पुरुष को परम पुरुषार्थ मिल गया तो ये गुण कृतार्थ हो जाते हैं तथा अपने मूल रूप—प्रधान या प्रकृति—में विलीन हो जाते हैं । तब अकेली प्रकृति बच जाती है— इसे **प्रकृति का कैवल्य** (अकेला हो जाना) कहते हैं । दूसरी ओर, बुद्धितत्त्व से संबन्ध न रहने के कारण जब पुरुष केवल चितिशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसे **पुरुष का कैवल्य** कहते हैं । सांख्य-दर्शन में स्वीकृत दो तत्त्वों को योग भी मानता है अतः दोनों का अलग-अलग कैवल्य माना गया है । कैवल्य कोई ऐसी चीज तो है नहीं कि केवल चेतन को ही मिले । कैवल्य का अर्थ है अकेला हो जाना, अपनी सारी दुकान समेट लेना ।]

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि कैवल्य हो जाने पर भी प्राणी का जन्म क्यों नहीं होगा । यह बात तो प्रमाणों से सिद्ध है कि कारण (क्लेशबीज) के

अभाव से कार्य (जन्म, मरणादि) का अभाव होता है। इस सिद्ध बात के लिए न तो नियोग (विधि, अपूर्व वस्तु का बोधक) संभव है न अनुयोग (प्रश्न) ही। [जो बात सभी जानते हैं उसके लिए विधि नहीं दी जाती। कैवल्य पाने के बाद जन्म नहीं होता--यह बात भी वैसी ही है, कहने की आवश्यकता नहीं। प्रश्न भी अज्ञात वस्तु के लिए ही किया जाता है। प्रस्तुत वस्तु को जानने के लिए प्रश्न करना भी व्यर्थ है।]

अपरथा कारणाभावेऽपि कार्यसम्भवे मणिवेधादयोऽन्धादिभ्यो भवेयुः। तथा चानुपपन्नार्थतायामाभाणको लौकिक उपपन्नार्थो भवेत्। तथा च श्रुतिः—'अन्धो मणिमविन्दत्। तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्। तमजिह्वा असश्चत' (तै० आ० १।११।५)। अविन्ददविध्यत। आवयद् गृहीतवान्। प्रत्यमुञ्चत् पिनद्धवान्। असश्चताभ्यपूजयत्, स्तुतवानिति यावत्।

यदि ऐसा न हो और कारण के न रहने पर भी कार्य होने लगे (क्लेशबीज न रहने पर भी जन्म-मरण होने लगे) तो अन्धे भी मणि में छेद करने लग जायँगे [क्योंकि अवलोकन का कारण अर्थात् आँखों के न रहने पर भी उसका कार्य मणिवेध आदि संभव हो सकेगा।] असंभव वस्तु का उदाहरण देने के लिए दिया गया यह लौकिक दृष्टान्त भी संभव हो जायगा। जैसा कि श्रुति में कहा है—'किसी अन्धे ने मणि का वेध (छेद) किया। किसी अंगुलिरहित व्यक्ति ने उसे पकड़ा (उसे ग्रथित किया)। किसी ग्रीवाहीन व्यक्ति ने उसे पहना और किसी जिह्वाहीन ने उसकी प्रशंसा की।' (तैत्तिरीय आरण्यक, १।११।५)। अविन्दत् = वेध किया। आवयत् = पकड़ा (गूँथा)। प्रत्यमुञ्चत् = पहना। असश्चत = प्रशंसा की, स्तुति की। [वास्तव में कोई पुरुष आँखों से मणि देखकर, उसे उँगलियों से पकड़कर, गले में पहन कर जीभ से प्रशंसा करता है। चिदाकार आत्मा उन अंगों से रहित होकर भी उन सारे व्यापारों को करती है क्योंकि इसकी शक्ति अचिन्त्य है। यही उस श्रुति का अर्थ है। यहाँ चिदात्मा की प्रशंसा है कि यह असंभव कार्य भी करती है। यदि कारण न रहने पर भी कार्य होता तो यहाँ प्रशंसा का अवकाश नहीं था। यहाँ पर माधवाचार्य इसे बिल्कुल भौतिकवादी अर्थ में लेते हैं।]

(२५ क. योगशास्त्र के चार पक्ष)

एवं च चिकित्साशास्त्रवद् योगशास्त्रं चतुर्व्यूहम् । यथा चिकित्साशास्त्रं रोगो रोगहेतुरारोग्यं भेषजमिति, तथेदमपि संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति । तत्र दुःखमयः संसारो हेयः । प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयभोगहेतुः । तस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम् । तदुपायः सम्यग्दर्शनम् । एवमन्यदपि शास्त्रं यथासंभवं चतुर्व्यूहमूहनीयमिति सर्वमवदातम् ।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पातञ्जलदर्शनम् ॥

इस प्रकार चिकित्साशास्त्र की तरह योगशास्त्र के चार पक्ष (Aspects) हैं । जैसे रोग, रोग के कारण, आरोग्य और औषधि, इन चारों पक्षों को मिलाकर चिकित्साशास्त्र कहलाता है उसी प्रकार योगशास्त्र भी संसार, संसार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के उपाय को मिलाने से बनता है ।

उनमें दुःखों से निर्मित संसार हेय है। प्रकृति (बुद्धि) और पुरुष का संयोग इस हेय (संसार) के भोग का कारण है। [बुद्धि और पुरुष का संयोग होने से अविद्या संसार का निर्माण करती है ।] उससे सदा के लिए बच जाना मुक्ति है। उसका उपाय है सम्यक् दर्शन (अर्थात् प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान)। इसी तरह दूसरे शास्त्रों को भी यथासंभव चतुर्व्यूह सिद्ध कर सकते हैं—सब कुछ स्पष्ट ही तो है।

विशेष—योग के चतुर्व्यूह की तुलना बुद्ध के चार आर्यसत्यों से की जा सकती है । जिन प्रतियों में शांकरदर्शन नहीं मिलता उनमें यहाँ पर यह लिखा हुआ मिलता है—'इतः परं सर्वदर्शनशिरोमणिभूतं शांकरदर्शनमन्यत्रलिखितमित्यत्रोपेक्षितमिति' । वास्तव में यह लिपिकार की करनी है। इसका विवेचन भूमिका में किया गया है ।

इस प्रकार सायण-माधव के सर्वदर्शन-संग्रह में पातंजल-दर्शन समाप्त हुआ ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां पातञ्जलदर्शनमवसितम् ॥